सत्साहित्य-प्रकाशन

विनोबा के विचार

[तीसरा भाग]

अनुवादक एवं संग्रहकर्त्ता

कुन्दर दिवाण

आर्य ...
पुस्तका...
सं० 2036
1163
नई दिल्ली-26

१९६५

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री
सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

सर्वाधिकार
ग्राम सेवा मंडल, वर्धा
द्वारा सुरक्षित

पहली बार : १९६५
मूल्य :
डेढ़ रुपया

मुद्रक
राष्ट्रभाषा प्रिन्टर्स
क्वीन्स रोड, दिल्ली

प्रकाशकीय

'विनोबा के विचार' के इस तीसरे भाग को प्रकाशित करने में हम विशेष धन्यता का अनुभव कर रहे हैं। इससे पूर्व हमने जो दो भाग प्रकाशित किये थे, उन्हें असाधारण लोकप्रियता प्राप्त हुई है। पहले के नौ और दूसरे के छह संस्करण अबतक हो चुके हैं। तीसरे भाग के लिए निरंतर मांग हो रही थी।

सामाजिक क्रांति के लिए प्रेरक विचारों की पृष्ठभूमि का होना एक अनिवार्य शर्त है। विनोबा के विचारों में इसीकी पूर्ति होती है। विचार चाहे किसी अवसर पर प्रकट किये गए हों, पर उनका मौलिक और क्रांतिकारी विवेचन उन्हें प्रसंगातीत बना देता है। इसीलिए विनोबा के विचार कभी पुराने नहीं पड़ते; वे नित नूतन स्फूर्ति के अक्षय स्रोत बने रहते हैं। काल की दृष्टि से इसमें संकलित लेख स्वतंत्रता-पूर्व के हैं, और दो-एक लेख लगभग उस समय के हैं जब स्वतंत्रता के सूर्य का उदय होने को था। अतः सामाजिक क्रांति के संदर्भ में उनमें जिन चेतावनियों का समावेश है, उनका मूल्य अब भी बना हुआ है।

हमें आशा है, पूर्व दो भागों की तरह यह तीसरा भाग भी व्यापक प्रचार-प्रसार पायेगा और भारत में सामाजिक क्रांति के नेता और कार्यकर्ताओं को इससे जो रोशनी मिलेगी, वह उन्हें अपने मार्ग पर निष्ठापूर्वक चलने की प्रेरणा देती रहेगी। 'खादी-जगत, 'ग्राम-सेवा-वृत्त', 'महाराष्ट्र धर्म' आदि जिन पत्रिकाओं से सामग्री ली गई, उनका हम आकार मानते हैं।

—मंत्री

निवेदन

सत्य अनन्त है और इसलिए उसकी खोज भी अनन्त ही हो सकती है। इस अनन्त की अनन्त खोज में साधकों की अनन्त मालिका चली आ रही है। इस मालिका में सन्त विनोबा का नाम लिया जायगा।

१९२० से आज तक उनके विचारों का प्रकाश और प्रभाव बढ़ता ही गया है और यह बिलकुल स्वाभाविक था, क्योंकि सत्य स्वयं प्रकाश होता है और अपना प्रभाव प्रकट किये बगैर नहीं रह सकता।

विनोबा ने बचपन से ही परमार्थ का निश्चय किया और उसीकी एकाग्र उपासना की। इस कारण उनका जीवन तेजःपुञ्ज बन गया है।

तद्-बुद्धयस् तदात्मानस् तन्निष्ठास् तत्परायणाः।
गच्छन्त्य पुनरावृत्तिं ज्ञान-निर्धूत-कल्मषाः॥

का वह एक जीवन्त उदाहरण है। इसलिए उनके विचार, उच्चार और आचार का अवलोकन और अध्ययन हम सबको सदैव हितकर होगा। स्पर्शमणि कवि-कल्पना है, लेकिन सद्विचार रूप स्पर्शमणि प्रत्यक्ष वस्तु है। उससे मिट्टी का सोना होता है। कोई भी आजमा के देख ले।

विनोबा के विचार नित्य विकासशील हैं, क्योंकि वह जीवन्त वस्तु है। उनके प्रकीर्ण विचारों की दो पुस्तकें पहले ही प्रकाशित हो चुकी हैं और यह तीसरी पुस्तक उनकी पूर्ति में प्रस्तुत हुई है। इन तीनों में उनके स्वतन्त्रता-पूर्व के विचार संगृहीत हुए हैं। स्वतन्त्रता के बाद का पर्व भूदान पर्व कहलायेगा। उसकी बहुत-सी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। लेकिन बीच की कड़ी गायब थी, वह इस संग्रह से जोड़ी गई है। इन तीनों पुस्तकों में अबतक का विचार-प्रवाह देखा जा सकता है। विचार स्थल और काल से संबद्ध होने की वजह से उनकी स्थल-कालापेक्षी उपयोगिता

स्थिर नहीं रह सकती। लेकिन उनसे मिलनेवाली स्फूर्ति और दृष्टि हमेशा के लिए उपयोगी होती है। उसी अंश को हमें हृदयंगम करना है। नीर-क्षीर-विवेक और नित्यानित्य विवेक हमेशा ही करना होता है। वही विचार का उपादान है।

अनुवाद यथासाध्य भावानुसारी किया है। आशा है, कहीं भूल-चूक रह गई हो तो सुधार ली जायगी।

—कुन्दर दिवाण

विषय-सूची

१. सच्ची स्वतंत्रता ६
२. हम सबका श्रेय १२
३. क्रांत दर्शन १८
४. प्रेम का कार्यक्रम २४
५. हमारी धर्महीनता ३१
६. आज के युग में समत्व ३५
७. सेवा द्वारा क्रांति ४०
८. सत्ता और सेवा ४४
९. गो-सेवा की दृष्टि ४७
१०. पैसा नहीं, पैदावार ५७
११. ग्राम-सेवा का स्वरूप ६४
१२. सोने की खान ६७
१३. स्त्री-पुरुष-अभेद ७०
१४. सीता तो प्रत्येक नारी बन सकती है ७४
१५. शंका-समाधान ७९
१६. अहिंसा का सिद्धांत और व्यवहार ८३
१७. आचरण में असफलता क्यों ? ९३
१८. अहिंसा का उदय ९५
१९. प्रार्थना में विवेक १०१
२०. ज्ञानदेव का गीतार्थ १०५
२१. जीवन-समस्या का हल १०९
२२. वाणी का सदुपयोग ११२
२३. सत्य और सौंदर्य ११५
२४. समग्रता की सुन्दरता ११७
२५. अचित्तं ब्रह्म १२०
२६. लक्षचंडी का यज्ञ १२३
२७. विविध विचार १२६

१. गरीबों के संरक्षक, २. स्वतंत्रता का गुलाम, ३. नदी : ईश्वर की बहती हुई करुणा, ४. कायरता और क्रूरता की दूरी, ५. अस्पृश्यता-निवारण का व्रत, ३. प्रेम का आधार, ७. गीता और गणतंत्र, ८. दैनंदिनी लिखें, ९. मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयः, १० हिमालय विभूति क्यों ? ११. 'सहनाववतु' का विवरण, १२. दास-नवमी-चिंतन, १३. विवाह का प्रश्न, १४. देव-स्थानों का सुधार, १५. आत्मनिष्ठ बनें, १६. लड़के-लड़कियों की शिक्षा।

विनोबा के विचार

[तीसरा भाग]

: १ :

सच्ची स्वतंत्रता

स्वर्गीय दादाभाई नौरोजी ने सन् १९०६ में हमारे देश को 'स्वराज' शब्द दिया। उस समय के तरुणों में जो छटपटाहट थी, वह गुरुमुख से प्रकट हुई। उन दिनों हम छोटे बच्चे स्वतंत्रता के गीत गाते थे। उनमें से हमारे मुंह में एक गीत यह था—

"भू जपानची नटवीली, स्वातन्त्र्यें। इटली हि कशी हंसवीली, स्वातन्त्र्यें।"

जापान ने रूस के आक्रमण का मुकाबला किया और विजय हासिल की। गुलामी में सड़ रहे सारे एशिया की मानो उसने इज्जत रख ली। हमें ऐसा लगा जैसे पूर्व में स्वराज-सूर्य का उदय हुआ हो। हमारे लोग जापान के शौर्य के गीत प्रेम से गाने लगे। गुलामी की बेड़ियों को तोड़कर स्वतंत्र हुए देशों के इतिहास की खोज शुरू हुई। आस्ट्रिया की अधीनता से इटली स्वतंत्र हुआ था। स्वभावतः ही हमारा ध्यान उसकी ओर गया। इटली के देशभक्त मैजिनी और गैरीबाल्डी के चरित्र भारत की सभी भाषाओं में लिखे गए।

परंतु आज हम क्या चमत्कार देख रहे हैं ? जिस जापान में स्वराज-सूर्य के उगने का आभास हुआ था, वही चीन को अपने पैरोंतले रौंदने का प्रयत्न कर रहा है। भारत की सहानुभूति जापान से हटकर चीन की तरफ चली गई। जिस इटली ने मैजिनी जैसे स्वाधीनता के पुजारी को जन्म दिया, उसीने मौका पाकर अबीसीनिया पर हमला कर दिया और स्वभावतः भारत की सहानुभूति इटली से हटकर अबीसीनिया के प्रति हो गई।

यह क्या चमत्कार है ? हमारे अपने इतिहास में भी हम यही देखते हैं। जो मराठे अन्याय के खिलाफ बगावत करके खड़े हुए वही आगे चल-

कर राजपूतों को पीसने लगे और उन्होंने उड़ीसा को रौंद डाला। शिवाजी की भारतीय स्वराज की भाषा को भुलाकर हवा में मराठाशाही की भाषा गूंजने लगी। मराठों में भी आपस में यादवी युद्ध मचा और मराठाशाही की भाषा भी हवा में उड़ गई।

परंतु इसमें चमत्कार कुछ नहीं है। दूसरे की सत्ता हमपर न रहे, केवल इतनी ही स्वतंत्रता की प्रीति कोई बहुत बड़ा गुण नहीं है। वह तो पशुओं में भी पाया जाता है। स्वतंत्रता का सच्चा उपासक तो वह है, जो चाहता है कि उसकी सत्ता दूसरों पर न हो। और उसका वह एक बड़ा गुण कहा जा सकता है।

परंतु अभी यह गुण मनुष्यों में जड़ नहीं जमा पाया है, बल्कि कहा जायगा कि इससे उल्टे गुण ने जड़ जमा ली है। मुझपर किसीकी सत्ता न हो और यथाशक्य मेरी सत्ता दूसरों पर हो, अभी तो मनुष्य की यही वृत्ति है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मनुष्य-हृदय उसे स्वीकार करता है, क्योंकि जो महापुरुष किसीपर अपनी सत्ता नहीं चलाते, उनके प्रति उसके हृदय में भी आदर है। परन्तु उन्हें 'सामान्य' नहीं, 'महापुरुष' कहा जाता है। सामान्य पुरुष ही महान बन जाने चाहिए। परन्तु आज यह बात नहीं है।

आज की स्वतंत्रता की वृत्ति यह है कि मुझपर किसीकी सत्ता न हो और यथासंभव मेरी सत्ता जरूर दूसरों पर हो। इसी वृत्ति के पूर्वार्ध को सिद्ध करने का जब कार्यक्रम चलता है तब उसके बारे में स्वभावतः लोगों में सहानुभूति होती है, परन्तु ज्योंही इस वृत्ति के उत्तरार्ध का कार्यक्रम शुरू हो जाता है, त्योंही यह सहानुभूति भी चली जाती है।

हर आदमी को अपने हृदय को टटोलकर देखना चाहिए कि स्वतंत्रता का सच्चा अर्थ उसे कहांतक प्रिय है। कितने माता-पिताओं को ऐसा लगता है कि उनकी सत्ता उनके बच्चों पर भी न हो ? वे अपनी बुद्धि के अनुसार कार्य करें, उनकी सलाह पर विचार करें, जंचे तो उसे मानें, न जंचे तो छोड़ दें। जब बच्चे छोटे होते हैं तब उनपर कुछ सत्ता चलानी पड़ती है।

परंतु वह भी दुःख की बात है। जहांतक संभव हो, बच्चों को जल्दी ही स्वावलम्बी बना देना चाहिए, ऐसी छटपटाहट कितने माता-पिताओं में होती है ? कितने माता-पिता इतनी सावधानी रखते हैं कि छोटे बच्चों को भी यह आभास न होने दें कि उनपर हम अपनी सत्ता चला रहे हैं ? इस प्रकार हर बात उन्हें समझाकर और उनकी बुद्धि को जाग्रत करके, उसे चालना देकर, उनकी सम्मति लेकर हर काम करें, ऐसा कितने माता-पिताओं को लगता है ? कितने माता-पिता संतोष और गौरव के साथ कहते हैं कि "हमारे बच्चे हमारी सत्ता को नहीं मानते"?

पाठशाला में भी कितने शिक्षक अपना बड़प्पन अपने विद्यार्थियों पर नहीं लादते ? कितने शिक्षक बच्चों से कह सकते हैं कि "बच्चो मुझसे डरो मत। मेरी बात समझ में आये तभी ग्रहण करो। मेरे आचरण में यदि कहीं दोष दिखाई दें तो उनका अनुकरण मत करो। उलटे इन दोषों की तरफ मेरा ध्यान जरूर दिलाओ। यदि यह बात नम्र भाषा में नहीं कह सको तो जैसी भाषा में कहते बने वैसी भाषा में कहो, परंतु कभी दबकर न रहो ?" यदि प्रेमल माता-पिता को भी अपने बच्चों पर तथा दयालु शिक्षकों को भी विद्यार्थियों पर सत्ता चलाने की जरूरत मालूम हो तो स्वतंत्रता का उदय कैसे होगा ?

मेरी सत्ता किसीपर न चले, यदि कहीं ऐसा हो रहा हो तो वह दुःख की बात होगी, ऐसा जब मनुष्य को लगेगा, तभी स्वतंत्रता का उदय होगा।

: २ :

हम सबका श्रेय

भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना हुई तबसे शालाओं में सब जगह इतिहास पढ़ाया जाता है। वह हम छुटपन से पढ़ते आये हैं। इतिहास पढ़ते समय मेरे मन में सदा यह विचार आता रहता था—और वैसा आपके मन में भी आता रहता होगा—कि हम यह इतिहास कितने दिन तक पढ़ते रहेंगे ? हम स्वयं भी किसी इतिहास का निर्माण करेंगे या नहीं ? ऐसे ही इतिहास का निर्माण हमने पिछले तीन वर्षों के आन्दोलन[१] में किया है।

इस सबका श्रेय सामान्य जनता को और खासकर विद्यार्थियों को है। सरकार ने सारे नेताओं को जेल में बन्द कर दिया और उसके कारण जनता को स्वतंत्र बुद्धि से बरतने का मौका मिला; यह मानो ईश्वर की कृपा ही थी। इस तरह चलने में अनेकों ने अनेक तरह की गलतियां भी कीं। परन्तु स्वराज का अर्थ गलतियां करने का अधिकार ही तो है। इसलिए कोई कारण नहीं कि की गई गलतियों के लिए खेद करते बैठे रहें। आगे के युद्ध में और सही तरीके से, बिना अधिक गलतियां किये, लड़ेंगे। फिर भी पिछले तीन वर्षों में नेताओं का मार्गदर्शन न होते हुए भी लोगों ने खुले रहकर जो कुछ भी किया उसका समग्र दृष्टि से विचार करें तो मुझे वह आनन्दप्रद और प्रशंसनीय मालूम होता है। विशाल गंगा में गन्दे पानी का कोई नाला आकर मिल जाता है तब भी उससे पावन गंगा अपावन नहीं हो जाती। उसी प्रकार इतने बड़े आन्दोलन में, जिसमें सारे भारत ने भाग लेकर एक प्रचण्ड सत्ता से टक्कर ली, यदि कहीं गलतियां हुई भी हों तब भी सब

---

[१] 'भारत छोड़ो' आंदोलन सन् १९४२ से १९४५ तक।

मिलाकर यही कहना होगा कि राष्ट्र ने जो कुछ किया वह अगली पीढ़ियों के लिए भी उत्साहवर्धक होगा।

सरकार ने हर प्रकार से दमन करने में कुछ भी उठा नहीं रखा। परन्तु बेचारी सरकार को भी क्या दोष दिया जाय ? हम देखते हैं कि घबराया हुआ आदमी सदा ही मर्यादा का उल्लंघन करता है। यदि सरकार धैर्यवान होती तो उसने जो आचरण किया, उससे भिन्न प्रकार का करती। किन्तु डरी हुई सरकार से, उसने जैसा भी आचरण किया है, उससे भिन्न प्रकार के आचरण की अपेक्षा ही कैसे की जा सकती है ? इसलिए मैं सरकार को दोष नहीं देता। किन्तु इतना दमन सहन करने पर भी लोगों के चेहरे पर मुझे घबराहट नहीं दिखाई दी। इसलिए मेरी राय यह है कि भारत ने पिछले तीन वर्षों में बहुत ही कमाई की है।

दवाई देते समय डाक्टर शीशी भरकर दवाई देता है। घर लाने पर शीशी में ऊपर पानी और नीचे दवाई बैठ जाती है। इसलिए डाक्टर मरीजों को यह हिदायत दे रखता है कि वे दवाई लेते समय शीशी हिलाकर दवाई लें। हिलाने से सारी दवाई मिल जाती है और तब दवाई का प्रभाव पड़ता है। समाज की स्थिति भी ऐसी ही है। समाज को यदि बीच-बीच में हिलाया न जाय तो ऊपर-ऊपर पानी इकट्ठा हो जाता है, जिससे समाज की आरोग्य-शक्ति घट जाती है। इस समय सारे समाज को खूब हिलाया गया, इसलिए भारत का स्वास्थ्य सुधर गया है। पिछले तीन वर्षों में भारत ने जो प्रगति की वह पचास वर्षों में भी नहीं हो सकती थी। यह प्रगति तीन बातों से प्रकट होती है। पहली तो यह कि भारत को जो एक मुर्दा राष्ट्र माना जाता था, संसार की वह धारणा बदल गई और दुनिया के लोग हक्का-बक्का होकर चौकन्ने हो गये। भारत एक 'मानव-समुदाय' है, वह जाग उठा है, यह पूरी तरह दुनिया के ध्यान में आ गया। यह कोई छोटी-सी बात नहीं है। इस कारण सारे संसार में भारत की प्रतिष्ठा बढ़ी है। इतना होने पर भी यदि मुझे लोगों में इतना तेज नहीं दिखाई देता तो प्रतिष्ठा बढ़ जाने पर भी मुझे संतोष नहीं होता। परंतु साढ़े तीन वर्ष पहले जो स्वाभिमान

व क्रांति लोगों में नहीं दिखाई देती थी, वह आज दिखाई देने लगी है। विद्यार्थी पहले की अपेक्षा बहुत ही निर्भीक और स्वाभिमानपूर्वक व्यवहार करते दिखाई देते हैं। निर्भयता सब गुणों में श्रेष्ठ है। यदि निर्भयता लोगों में आ जाय तो फिर और किसी हथियार की ज़रूरत नहीं, और यदि निर्भयता न हो तो दूसरे सभी हथियार बेकार हैं। दूसरी बात यह है कि पिछले आंदोलन ने भारतीय समाज में इस निर्भयता का निर्माण किया है। और तीसरी यह कि ठेठ आंचलिक ग्रामों का समाज, जो किसी भी तरह नहीं जागता, वह भी इस समय जाग गया है। यदि इन तीनों बातों को हम जोड़ सकें तो दिखाई देगा कि तीन वर्षों की घटनाओं का इतिहास उत्साहवर्द्धक है।

जेल में रहते हुए हमें विचार आता था कि जब जेल से बाहर आयेंगे तब हमारी क्या हालत होगी। किन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया, हमने देखा कि जेल से आये हुए लोग अधिक मजबूत बनते जा रहे हैं। जेल में जानेवाले लोग यदि नरम बनकर बाहर निकलते तो मैं कहता कि सरकार को बड़ी विजय प्राप्त हुई है। किन्तु ऐसा नहीं हुआ, बल्कि उससे ठीक उल्टा हुआ। सरकार ने हमें तीन वर्ष तक एक साथ रखकर एक बड़ी भारी प्रचार-संस्था खड़ी कर दी। वहां व्याख्यान देने और अध्ययन करने का खूब मौका मिला। साथ ही, एक जबरदस्त संगठन किया जा सका। यह बात निश्चित है कि तीन वर्ष पहले हम सरकार के लिए जितने भारी थे, उससे आज दसगुना ज्यादा भारी हैं। यह परिणाम भी हमें ध्यान में रखना होगा। यह सब परिणाम इस आंदोलन का है। इसलिए आज का दिन मुझे आनन्ददायक मालम होता है।

रामायण में एक कथन है कि रामराज्य में किसी नागरिक का लड़का छोटी उम्र में मर गया। उस मृत बालक को लेकर वह राम के दरबार में आया और राम के सामने रखकर बोला, "इसकी हत्या तेरे सिर है।" राम ने उसका क्या किया, यह मैं यहां नहीं कहूंगा। मुझे यहां यह कहना है कि हम भोले लोगों का यह खयाल है कि प्रजा में किसीका बच्चा छोटी उम्र में मर जाय तो उसका दोष भी राज-सत्ता के सिर है। आज तो हमने अपनी

आंखों के सामने दस-पन्द्रह लाख लोगों को भूखों मरते देखा है। हम भोले-भाले लोगों की बात जाने दें, किन्तु मैं तो यह जानना चाहता हूं कि राजनीति के पंडितों की इस मामले में क्या राय है ? मैं राजनीति के पंडितों से पूछता हूं कि वे अपने राजनीति के तत्वों के आधार पर कहें कि ये लाखों लोग मरे, उसकी जिम्मेदारी इस राजसत्ता पर है या नहीं ? यदि वे इस प्रश्न के उत्तर में हां कहें तो मैं फिर पूछूंगा कि तब यदि हमने 'क्विट इंडिया' के मंत्र का उच्चारण किया तो उसमें कहां गलती की ? पिछले तीन वर्षों में यदि वे यह सिद्ध करके दिखाते कि उस मंत्र की आवश्यकता नहीं थी तब भी हम स्वीकार कर लेते कि हमारा मंत्र गलत था। परंतु भारत के आज तक के शासनकाल में उन्होंने जो पाप किये या कहें कि उनके हाथों हुए, उनपर पिछले तीन वर्षों की घटनाओं के द्वारा कलश चढ़ा दिया गया है। भारत में इतनी हत्याएं हो जाने पर भी वहां वह एमरी क्या कहता है? "इसके लिए हम जिम्मेदार नहीं हैं।" "तब कौन है ?" पूछने पर कहता है—बंगाल में 'प्राविन्शल ऑटोनॉमी' है। उसपर इसकी जिम्मेदारी है। प्राविन्शल ऑटोनॉमी यानी क्या ? वह है प्रान्त के लोगों को मरने की स्वतंत्रता। उन्हें वह स्वतंत्रता दी गई है और वे उसका निर्वाह कर रहे हैं। इस प्रकार वह भला आदमी कहता है। तब इसपर हम रोयें या हँसें ? इसीलिए हम कहते हैं कि हमारा मंत्र सच्चा था, यह बात अब हजारगुना सिद्ध हो चुकी है। अब उसे छोड़ने की जरूरत नहीं, बल्कि उसे पूरा करना है।

उस मंत्र को पूरा कैसे किया जाय ; इसपर ठीक तरह से विचार किया जाना चाहिए। नदियों में बाढ़ आ जाने पर बहुत-सी अमूल्य मिट्टी किनारे पर जम जाती है। बाढ़ तो जैसी आती है वैसी उतर जाती है, किन्तु यह जमनेवाली मिट्टी बहुत ही कीमती होती है और उसका उपयोग करके अच्छी फसल पैदा की जा सकती है। गंगा-जमुना के बीच की दोआब की जमीन बहुत ही उपजाऊ है। उसका कारण बाढ़ के बाद जमा होनेवाली दोनों नदियों की मिट्टी है। ऐसी मिट्टी को बेकार जाने देना दुर्भाग्य का लक्षण है। उसका उपयोग करने से राष्ट्र का नवनिर्माण होता है और वह

लक्ष्मीवान बनता है। उसी प्रकार पिछले आंदोलन की जबरदस्त बाढ़ आई थी। उसके बाद काफी मिट्टी आकर जमा हुई है। इस आंदोलन से ऐसे कई कार्यकर्ता सामने आये हैं, जिन्हें राष्ट्र ने पहले नहीं पहचाना था या जिन्हें प्रकट होने के लिए ऐसा मौका नहीं मिला था। इस आंदोलन ने राष्ट्र को ऐसे नये कार्यकर्ता दिये हैं। इसे मैं इस आंदोलन का सबसे बड़ा लाभ मानता हूं।

इन नये लोगों से हमें फसल लेनी चाहिए। उनका संगठन बनाना चाहिए। उनमें परस्पर ऐक्य भाव निर्माण करना चाहिए और उनकी कर्तृत्व-शक्ति को बढ़ाना चाहिए। उत्साह के जोश में क्षणिक त्याग करना आसान होता है। परन्तु उत्साह का पूंजी के रूप में उपयोग करके उसके आधार पर उसमें वृद्धि करना कठिन काम है। अब वही किया जाना चाहिए। इसलिए आपसे मेरा कहना है कि जिस उत्साह से आपने अगस्त की लड़ाई में भाग लिया था, उसी उत्साह से अब आप रचनात्मक काम में लगें। इस काम में आपको मेरी मदद मिल सकेगी। मेरे पास कुछ लोग हैं। उनकी सेवा भी आपको मिल सकती है। आपने जिस उत्साह से इतना प्रचण्ड काम किया वही उत्साह आप इस रचनात्मक काम में भी लगायें। यदि आप यह करेंगे तो दूसरी लड़ाई लड़े बिना ही स्वराज आपके हाथ में आ टपकेगा। किन्तु यदि वैसा न हुआ और लड़ाई लड़नी पड़ी तो पहले की अपेक्षा सौ गुना ताकत से वह लड़ी जा सकेगी। इसलिए हृदय में सुलगता हुआ अग्निकुण्ड और सिर पर हिमालय की ठंडी बर्फ लेकर काम में लगेंगे और तपस्या करेंगे तो माना जायगा कि आंदोलन का पूरा लाभ उठाया गया है। और मुझे इसमें बिलकुल संदेह नहीं कि ईश्वर की कृपा से भारत कृतकृत्य होगा।

पिछले आंदोलन में जिन हुतात्माओं ने बलिदान दिया है, उन्हें श्रद्धांजलि देना हमारा कर्तव्य है और उसका हमें निर्वाह करना है। ऐसी असंख्य आहुतियां पड़ी हैं। इन हुतात्माओं के बलिदानों से भारत का एक अद्भुत और रम्य इतिहास आगे चलकर लिखा जायगा। किसी उपन्यास-लेखक

को यदि अदभुत रस का कोई उपन्यास लिखने की इच्छा हो तो उसे इस आंदोलन में इतनी सामग्री मिल सकती है कि वह तृप्त हो जायगा। इन हुतात्माओं के स्मरण में हमें जो प्रार्थना करनी है, वह यह नहीं कि उन्हें सद्‌गति प्राप्त हो। उन्हें तो वह प्राप्त हो ही चुकी है। प्रश्न अब हमारी गति का है। हमें अब यह प्रार्थना करनी है कि उनके जैसा बलिदान करने की शक्ति ईश्वर हमें भी दे!

: ३ :

क्रांत दर्शन

आप सबको देखकर मुझे आनंद हो रहा है। मैं अपने कार्यक्रम में मग्न रहता हूं। बाहर बहुत कम जाता हूं। परंतु आपके निमंत्रण को मैं अस्वीकार नहीं कर सका। यही नहीं, बल्कि मुझे स्वीकार करना चाहिए कि उसमें कुछ आकर्षण भी लगा। इसका कारण ढूढ़ने पर ऐसा लगता है कि आप सब विद्यार्थी हैं और मैं तो हमेशा के लिए एक विद्यार्थी हूं। अतः यह स्वाभाविक ही है कि सजातीय लोगों में परस्पर आकर्षण और प्रेम हो। और चूकि मैं भी विद्यार्थी हूं, और आप भी विद्यार्थी हैं, इसलिए इस नाम के कारण ही मुझे विलक्षण आकर्षण लगा।

परन्तु इससे भी और एक बड़ा कारण है। और वह बड़ा जोरदार है। वह यह कि युवकों से मुझे बड़ी आशा है। मैंने सुना है और पढ़ा भी है कि यौवन में अनर्थकारिता होती है, अर्थात् तारुण्य में मनुष्य बहकता जाता है। परन्तु यह केवल प्रवाद है, वस्तुस्थिति नहीं। मुझे तो अपने जीवन की अच्छी-से-अच्छी प्रेरणाएं युवावस्था में ही मिली हैं और उन्हीं प्रेरणाओं से मैं अभीतक प्रेरित हो रहा हूं। इसलिए मैं तारुण्य का कृतज्ञ हूं, और मेरे दिल में उसके प्रति आदर है। मैं उसे अनर्थकारी नहीं मानता।

तरुण शब्द का अर्थ क्या है? उसका अर्थ 'तरुण' शब्द से ही प्रकट है। शब्द मुझसे बात करते हैं। वे मुझे अपनी खूबी बता देते हैं। 'तरुण' शब्द स्वयं कहता है कि आप समाज के तारक हैं। 'तरुण' यानी तारक, तारण करनेवाला। इसलिए तरुणों पर बहुत-कुछ निर्भर है। मुझे तो तरुणों से बड़ी आशा है। मैं आपसे क्या अपेक्षा करता हूं? मैं आपको बताना चाहता हूं कि मुझे आपसे क्रांति से कम की अपेक्षा नहीं है। हमें

सार्वभौम क्रांति की आवश्यकता है। जीवन के समस्त क्षेत्रों में हम क्रांति चाहते हैं। इसलिए मुझे आपसे सार्वभौम और जीवनव्यापी क्रांति की आशा है। आज के नेताओं ने आपको क्रांति का मार्ग बता दिया है। फिर भी मैं मानता हूं कि यदि क्रांति आयगी तो वह नवयुवकों और विद्यार्थियों के द्वारा ही आयगी। तरुणों का यह लक्षण है कि वे संसार में नये-नये विचारों को दाखिल करते हैं और वीरता के साथ उनपर अमल करते हैं। इसलिए मैं मानता हूं कि आपको नये विचारों का साथ देना चाहिए और प्रत्यक्ष क्रांति कर दिखाना चाहिए।

क्रांति केवल घोषणाओं से नहीं होती। इसके लिए हर दिशा में प्रयत्न करना पड़ता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन करना होता है। मैं देखता हूं कि भारत के युवकों में उत्साह तो बहुत है, और मैं उत्साह को पसन्द करता हूं, परन्तु उत्साह को मैं युवकों का बहुत बड़ा गुण नहीं मानता। वह एक साधारण लक्षण है। एक बार किसी संस्था ने मुझसे सन्देश मांगा। उस संस्था का नाम था 'तरुण उत्साही मण्डल। मैंने कहा—तरुण और उत्साही, यह कैसे ? इसमें द्विरुक्ति है। 'तरुण' शब्द में उत्साह आ ही गया है। बूढ़ों के लिए अगर कहा जाय कि 'उत्साही बूढ़े' तो बात कुछ समझ में आने लायक होगी। उनके लिए इस विशेषण की जरूरत है। बूढ़ों को उत्साह की जरूरत है, परन्तु तरुणों को धीरज की जरूरत होती है। जिसमें उत्साह नहीं है, उसे तरुण कह ही नहीं सकते। धीरज उसमें इतना चाहिए कि जिस काम को हाथ में ले, उसे पूरा करके ही रहे। इसी-को सातत्य कहते हैं। तरुणों में धीरज होगा तभी वे क्रांति कर सकेंगे।

क्रांति के लिए क्रान्त दर्शन की जरूरत होती है। अपने आस-पास की परिस्थिति का विश्लेषण करके उस पार छिपी हुई वस्तु को स्पष्ट देखना और देखी हुई वस्तु को कार्यान्वित करना, इस कार्यान्वयन की शक्ति और हिम्मत को क्रांत दर्शन कहते हैं। क्रांत दर्शन के मानी हैं परिस्थिति के गर्भ में छिपी खूबियों का दर्शन। ऐसा क्रान्त दर्शन होगा तभी क्रांति हो सकेगी। क्रांत दर्शन के लक्षण क्या हैं, यह मैं आपको बताता हूं। आप मुझसे लम्बे-

चौड़े भाषण की नहीं, मार्गदर्शन की अपेक्षा करते हैं और मुझे भी लगता है कि इस विषय में मैं आपका मार्ग-दर्शन कर सकूंगा।

क्रांत दर्शन का पहला लक्षण है साम्ययोग। विद्यार्थियों के लिए साम्य-योग का आचरण कठिन नहीं है। हर प्रकार के भेदभाव को हम मिटा दें। जो पुराने विचारों में उलझे हुए हैं, पुराने संस्कारों में पले-पुसे हैं, भेदभावों की आदतों में जकड़े हुए हैं, उनमें अभेद की भावना का निर्माण करना कठिन है। परन्तु विद्यार्थियों के लिए यह बात असंभव नहीं। विद्यार्थी के सामने जीवन का नवीन आदर्श है, और उसमें यह शक्ति होती है कि अपने विचारों के अनुसार आचरण भी कर सके। जिसमें यह हिम्मत नहीं है, वह न तो तरुण है, न बाल। मुझसे एक बार किसीने 'बाल' शब्द का अर्थ पूछा। मैंने कहा जो बलवान् है, जिसके अन्दर हिम्मत है, जो अपनी इच्छा के अनुसार काम कर सकता है, वह बाल है। आप विचारों से ताजा हैं। इसलिए आप साम्ययोग का आचरण अवश्य कर सकते हैं। हिन्दुओं को बड़ा न मानें और मुसलमानों को छोटा न समझें। हरिजनों को नीचा और सवर्णों को ऊंचा भी न समझें। इस प्रकार सारे भेद-भावों को भुला दीजिये। विद्यार्थी तो बचपन से ही समभावी होते हैं। बच्चा पैदा होता है, तब किसी प्रकार का भेदभाव जानता ही नहीं। परन्तु बाद में माता-पिता ही उसपर अनेक प्रकार के भेदभाव के संस्कार डालते हैं। आपको इन संस्कारों से अलिप्त रहने का प्रयत्न करना चाहिए। आप किसीको भी ऊंचा या नीचा न समझें। आज हम अंग्रेजों को ऊंचा समझते हैं और हरिजनों को नीचा। ऊपरवालों की ठोकरें खाते हैं और नीचेवालों को ठुकराते हैं। परंतु आप न तो किसीकी ठोकरें खायं, न किसीको ठुकरायें। यह साम्ययोग है। और साम्ययोगी किसीको भी अपने से नीचा या ऊंचा न समझे, सबको अपने बराबर और अपने-आपको सबके बराबर समझे।

दूसरा लक्षण है श्रमनिष्ठा। मैं जानता हूं और मेरा इतिहास का अध्य-यन भी यही कहता है कि संसार में जितने भी विचार-प्रवाह और वाद जारी हैं उन सबकी जड़ में एक ही वृत्ति काम कर रही है और वही सारी विष-

मता की जड़ है। यह वृत्ति है खुद काम नहीं करना और दूसरे के परिश्रम का लाभ उठाना। इसलिए मैं विद्यार्थियों से अपेक्षा रखता हूं कि वे परिश्रम की प्रतिष्ठा समझें और लोहार, बढ़ई तथा भंगी का काम वे खुद शुरू करें। इस प्रकार के किसी भी काम को नीचा या ऊंचा न समझें। मुझे दुःख के साथ कहना पड़ता है कि कांग्रेस के नेता भी इस बात के महत्व को अभी नहीं समझे हैं। पहले गांधीजी ने सुझाया था कि कांग्रेस की सदस्यता-शुल्क के चार आने के स्थान पर सूत लिया जाय। इसमें उनका हेतु यही था कि पैसे के स्थान पर श्रम की स्थापना हो। इसके लिए एक समिति की भी स्थापना की गई थी, परन्तु उसका कुछ भी परिणाम नहीं हुआ। आखिर चार आनेवाली बात ही कायम रही। आप चार आने के बजाय कांग्रेस की सदस्यता का शुल्क भले ही दो आने या दो पैसे भी रख सकते हैं, परन्तु जबतक पैसे से सदस्य बना जा सकेगा तबतक पैसेवालों की ही प्रतिष्ठा कायम रहेगी। श्रम की प्रतिष्ठा यदि प्रस्थापित करनी है तो स्वयं हमें परिश्रम करना शुरू करना चाहिए।

लोग कभी-कभी पूछते हैं कि हर व्यक्ति के लिए परिश्रम अनिवार्य क्यों किया जाय ? मैं पूछता हूं कि हर व्यक्ति को भोजन करना क्यों जरूरी है ? लोग यह भी पूछते हैं कि ज्ञानी को श्रम का काम क्यों करना चाहिए ? वह भाषण क्यों न दे ? मैं पूछता हूं कि ज्ञानी भोजन क्यों करे, वह ज्ञानामृत से ही क्यों न सन्तुष्ट रहे ? उसे खाने, पीने और सोने की जरूरत क्यों हो ? यदि हमारे लिए सोना और खाना जरूरी है तो शरीर-श्रम भी जरूरी है। जिस दिन हम खाने की जगह दूसरी कोई चीज शुरू कर देंगे उस दिन श्रम की जरूरत नहीं रहेगी। परमेश्वर ने प्रत्येक को दिमाग दिया है और हाथ भी दिये हैं। यदि वह चाहता तो ज्ञानी को केवल दिमाग और मजदूर को केवल हाथ दे सकता था। उसने कुछ लोगों को केवल मस्तिष्कवाला और कुछ लोगों को हाथवाला बनाया होता। परन्तु उसने ऐसा नहीं किया, क्योंकि वह चाहता है कि हर आदमी विचार भी करे और काम भी करे।

काम से मतलब है उत्पादक श्रम । जो उत्पादक श्रम नहीं करता वह चोरी करता है ।

तीसरा लक्षण बड़ा महत्वपूर्ण है । तरुणों को अन्याय के प्रतिकार का व्रत लेना चाहिए । जहां-जहां भी अन्याय दीखे, वहां-वहां किसी भी हालत में उसका प्रतिकार किया ही जाना चाहिए । सामाजिक और राजनैतिक, सब प्रकार के अन्यायों के प्रतिकार का व्रत तरुणों को लेना चाहिए ।

परन्तु इस व्रत के पालन में हमें अहिंसा का उपयोग करना होगा, क्योंकि हिंसा से अन्याय का प्रतिकार हो ही नहीं सकता । इस युद्ध[१] ने यह बात सिद्ध कर दी है कि मानवता के लिए अहिंसा के सिवा और कोई रास्ता ही नहीं है । इस युद्ध में एक नया तत्व सामने आया है—अनन्य-शरणता । मरनेवाले शत्रु पर शर्त लगाई जाती है कि वह बिना शर्त आत्म-समर्पण करे । बड़े-बड़े राष्ट्र भी, जिनके पास करोड़ों की सेना होती है, इस प्रकार बिना शर्त शरण जाते हैं, क्योंकि वे शस्त्र के आधार पर लड़ते हैं । जो शस्त्रों के बल पर लड़ते हैं, वे अपने से बलवान शत्रु के सामने झुक जाते हैं । जहां शस्त्र-शरणता है वहां अनन्य-शरणता है ही । किन्तु जो शस्त्रों पर नहीं, आत्मबल पर विश्वास करता है वही अन्त तक लड़ते रहने की प्रतिज्ञा कर सकता है । अहिंसा के बल पर एक छोटा-सा बच्चा भी ऐसी प्रतिज्ञा कर सकता है और हम अन्याय के प्रतिकार के व्रत का निर्वाह कर सकते हैं ।

परन्तु इन दिनों मैं अखबारों में पढ़ता हूं और लोगों को भी कहते सुनता हूं कि अबतक हमने अहिंसा को बहुत आजमाकर देख लिया । अब तो तोड़-फोड़ का कुछ प्रयोग करने का समय आया है । सन् १९४२ में हमने इस दिशा में कुछ प्रयोग किया है, परंतु मैं आपसे स्पष्ट कह देना चाहता हूं कि जो लोग इस तरह की बातें आपसे कहते हैं, वे आपको कम-से-कम सौ वर्ष और गुलाम रखना चाहते हैं । आप यदि स्वतंत्र होना चाहते हैं तो आपके पास वह शक्ति है, जिसके बल पर आप स्वतंत्र हो सकते हैं ।

[१] द्वितीय महायुद्ध ।

हमारी अगली लड़ाई ४२ की लड़ाई से भी बड़ी होगी, परंतु वह अहिंसक होगी। उसका स्वरूप राष्ट्रव्यापी होगा। हमें राष्ट्रव्यापी संगठन करना होगा। उसीसे क्रांति होगी। इसके लिए हमें जनता की सेवा करनी होगी। तब वाइसराय के अध्यादेश की भांति हमारी सूचना भी पांच मिनट के अंदर सारे देश में फैल जायगी और उसी क्षण सार्वत्रिक हड़ताल हो जायगी, और जैसाकि सरदार ने कहा था, सात दिन के अंदर सारी क्रांति सफल हो जायगी। परंतु उसके लिए प्रेम और अहिंसा का संगठन करना होगा।

अन्त में एक बात और कह दूं—विद्यार्थी राजनीति में भाग लें या नहीं? यह प्रश्न अनेकों ने अनेक बार पूछा है। सच बात यह है कि हमारे देश का राष्ट्रीय आंदोलन राजनैतिक आंदोलन है ही नहीं। जब घर को आग लगती है तब बुझाने जायं या नहीं, क्या कोई इस प्रकार प्रश्न पूछता है? जितनी बड़ी बालटी उठा सके उठाकर हर आदमी को आग बुझाने के लिए दौड़ पड़ना चाहिए। छोटा बच्चा छोटी बालटी लेगा। गुलामी की आग बुझाने में सभीको भाग लेना चाहिए। विद्यार्थी है तो छोटी बालटी उठायेगा। परंतु उठायेगा जरूर।

: ४ :

प्रेम का कार्यक्रम

यह शिविर की कल्पना उपयोगी हो सकती है। जेल में रहते हुए दो-चार बार बोलने का मुझे प्रसंग मिला, तब मैंने कहा था कि सरकार ने हमारे लिए यह मुफ्त का शिविर खोल दिया है। इसमें बड़े-बड़े नेताओं को भी उपस्थित रहने का मौका मिल गया है। आपका यह शिविर तो केवल एक हफ्ते का है, परन्तु वहां तो सरकार ने दो-तीन वर्ष का पूरा प्रबंध कर दिया था। वह स्वयं एक बहुत बड़ा शिविर था। उसका ठीक-ठीक लाभ उठाया गया होता तो बाहर निकलते ही हम तुरंत काम में जुट जाते।

जो हो, आज यहां एक शिविर शुरू किया जा रहा है। आपमें से बहुतेरे लोग जेलवाले शिविर में भी जरूर रह आये होंगे, और मेरा खयाल है कि वहां आपने कुछ शिक्षण भी लिया होगा। इस प्रकार के सात दिनवाले शिविरों से बहुत लाभ नहीं हो सकता। मराठी की एक कहावत है—'रात थोड़ी और स्वांग बहुत से' ठीक वैसा ही हाल है। फिर भी सात दिन में भी कुछ तो जानकारी अवश्य दी जा सकेगी। वैसे देखा जाय तो सात दिन का समय बहुत ही कम है। कम-से-कम एक महीने का समय तो होना ही चाहिए।

बार-बार कहा जाता है कि हमें रचनात्मक कार्य में लग जाना चाहिए। इसलिए रचनात्मक कार्य के मूल में जो वस्तु है, वह मैं आज आपके सामने रख देना चाहता हूं। बात यह है कि हमारा देश बहुत बड़ा है। इसकी आबादी चालीस[१] करोड़ है। इतना बड़ा राष्ट्र एक महान् शक्ति भी बन

---

[१] अब तो यह बढ़कर लगभग पैंतालीस करोड़ हो गई है।

सकता है और कमजोर भी बना रह सकता है। यदि हम सबके अंदर प्रेम-भाव और एकता होगी तो यह राष्ट्र एक बहुत बड़ी शक्ति साबित हो सकता है और उसके आधार पर हम अपनी स्वतंत्रता अवश्य प्राप्त कर सकेंगे। यदि हमारे अंदर फूट रही—और फूट का निर्माण होना तो बहुत सरल है—तो यही चालीस करोड़ की संख्या हमारी दुर्बलता का कारण भी सिद्ध हो सकेगी।

आज हमारे अंदर अनेक प्रकार के भेद हैं—जातिभेद, भाषाभेद, प्रांत-भेद, और धर्मभेद। इन भेदों के कारण हमारे अंदर असंतोष भी है। ये सारे भेद अंगरेजों ने पैदा किये, यह कहना ठीक नहीं होगा। हां, उनके यहां रहने के कारण इनका जोर अवश्य बढ़ गया है, परंतु ये उत्पन्न हुए हैं हमारे ही कारण। हमारे भेद तो बने रहें, परंतु अंगरेज उनसे लाभ न उठायें, यह अपेक्षा करना गलत है। यदि वे ऐसा करने लगे, तब तो वही हमारे स्वराज के नेता बन जायंगे। भेदों से लाभ उठाकर ही वे यहां रह सकते थे। इस-लिए इन भेदों को हमें खुद मिटाना होगा और अभेद की तरफ अर्थात् प्रेम की ओर जाना होगा। इस प्रकार यदि थोड़े में कहना चाहें तो रचनात्मक कार्यक्रम प्रेम उत्पन्न करने का, प्रेम के प्रकाशन का, प्रेम के विकास का और प्रेमोपलब्धि का कार्यक्रम है। प्रेम की प्राप्ति के लिए जो प्रयत्न, जो रचना, करने की जरूरत है, उसको रचनात्मक कार्यक्रम कहते हैं।

भारत के दो भाग हैं—उत्तर और दक्षिण। उत्तरवालों को दक्षिण की भाषाएं नहीं आतीं और दक्षिणवालों को उत्तरकी भाषाएं नहीं आतीं। उत्तर में अनेक भाषाएं हैं। उत्तर के लोग कुछ अंशों में एक-दूसरे की भाषा समझ सकते हैं। हिन्दीभाषी यदि बंगाल में चले जायं तो वहां के लोग उनकी भाषा समझ सकेंगे। इसी प्रकार हिन्दीभाषी कुछ-न-कुछ बंगला समझ ही सकते हैं। दक्षिण के लोग एक-दूसरे की भाषा कुछ-कुछ समझ लेते हैं। उदाहरणार्थ तमिलभाषी कुछ-कुछ तेलुगु समझ लेते हैं और तेलुगुभाषी तमिल भाषा। परंतु उत्तर और दक्षिण के बीच भाषा-भेद की एक दीवार खड़ी है। इस दीवार से अनुचित लाभ उठाकर हमें बड़ी हानि की जा सकती

है। आपको ज्ञात होगा कि भारत सरकार ने अपनी सेना के दो भाग किये हैं—उत्तर और दक्षिण। यदि उत्तर में कहीं उपद्रव हुआ तो वहां दक्षिण की सेना भेजी जा सकती है और क्योंकि उत्तर के लोगों की भाषा वे समझ नहीं पाते, इसलिए वे उत्तर भारत के अपने भाइयों से विदेशियों के समान लड़ सकते हैं। इसी प्रकार यदि दक्षिण में कहीं बगावत हुई तो उत्तर की सेना वहां भेजी जा सकती है। इस भांति हमारे इन दो भागों का अनुचित लाभ उठाया जा सकता है। इतिहास के जानकारों को ज्ञात है कि सन् १८५७ के गदर में हमारे भेद का इस तरह लाभ उठाया भी गया था।

इसलिए हमारे लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि हम सब ऐसी किसी एक भाषा का अभ्यास करें, जिसे उत्तर और दक्षिण के लोग समान रूप से समझ सकें। इसका हेतु स्पष्ट ही ज्ञान-प्राप्ति नहीं है। लोग मुझसे पूछते हैं कि आप लोगों ने हिन्दुस्तानी शुरू की है, इससे क्या लाभ होगा? उसके साहित्य में ऐसी कौन-सी विशेषता होगी? मैं कहता हूं कि उसका हेतु ज्ञान की प्राप्ति है ही नहीं। वह तो केवल प्रेम के व्यवहार के लिए है। हमें आपस में प्रेम बढ़ाना है।

इसलिए दक्षिण के लोगों को उत्तर के लोगों की भाषा सीखनी चाहिए और उत्तर के लोगों को दक्षिण की कोई भाषा सीखने का प्रयत्न करना चाहिए। मैं जानता हूं कि इस दूसरी बात के लिए देश में कोई हलचल नहीं है। क्योंकि हिन्दुस्तानी हमारी राष्ट्रभाषा है, इसलिए दक्षिण की भाषाएं सीखने का कोई प्रयत्न न करें, यह उचित नहीं है।

उत्तर भारत में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही रहते हैं। इनमें से कुछ नागरी लिपि में लिखते हैं और कुछ उर्दू लिपि में। आजकल साधारणतः मुसलमान उर्दू में लिखते हैं। उनके समाचार-पत्र भी उर्दू में छपते हैं। हिन्दू नागरी में लिखते हैं और उनके समाचार-पत्र भी नागरी में छपते हैं। मैं 'साधारणतः' इसलिए कहता हूं कि हिन्दुओं के कुछ समाचार-पत्र उर्दू में भी छपते होंगे और मुसलमानों के भी कोई पत्र शायद नागरी में छपते हों। परंतु दोनों लिपियां यदि सीखी जायं तो हिन्दू और मुसलमान दोनों एक-

दूसरे के निकट पहुंच सकते हैं। इसमें भी मुख्य उद्देश्य ज्ञान-संपादन नहीं, प्रेम-संपादन ही है। यों देखा जाय तो हर आदमी के दिल में प्रेम होगा और प्रत्येक प्रान्त की स्वायत्तता यदि अहिंसा पर अर्थात् दूसरे प्रान्त के अविरोध पर आधारित है तो अपनी भाषा के अतिरिक्त दूसरी भाषा सीखने की अनिवार्य जिम्मेदारी किसीपर लादने की जरूरत नहीं रह जाती। इसके विपरीत यदि मत में द्वेष-भाव हो तो दूसरे के छिद्र जानने के लिए भी भाषाओं का अध्ययन किया जा सकता है। इस दृष्टि से दो नहीं, दस लिपियों और दस भाषाओं का भी यदि ज्ञान प्राप्त कर लिया जाय, तो भी हमारी दृष्टि से वह व्यर्थ है। इसलिए महत्व की बात है प्रेम बढ़ाने की, अधिक लिपियां और अधिक भाषाएं सीखने की नहीं। इस बात को समझ लेंगे तो यह प्रश्न ही खड़ा नहीं होगा कि हमपर अमुक भाषा और अमुक लिपि जबरदस्ती क्यों लादी जाती है।

अंगरेजों के आने से पहले हमारे देश में आज की भांति गांवों और शहरों के बीच ऐसी दीवारें नहीं थीं। आज जो भी थोड़ा-सा पढ़ लेता है, वह अपने गांव को छोड़कर शहर में आकर बैठ जाता है और गांवों का शोषण करने लग जाता है। उसे केवल अंगरेजी भाषा सिखाई जाती है। इस कारण वह गांवों की कुछ भी सेवा नहीं कर सकता। पुराने जमाने में विद्वान भी गांवों में रहते थे। आज तो कोई पढ़ा-लिखा वहां रहना नहीं चाहता। शासकों ने अपना शासन चलाने के लिए नौकरी-पेशा वर्ग इसीलिए निर्माण किया कि गांवों को लूटने में वह अंगरेजों की मदद कर सके।

इसका परिणाम यह हुआ है कि हमारे साहित्य का भी लोक-शिक्षण के काम में कोई उपयोग नहीं हो सकता। यहांपर साहित्य वगैरा के विषय में आपकी जो चर्चाएं चलती हैं, इन्हें गांवों में कौन पढ़ता है? हमारी भाषा में इतने छापाखाने हैं, परंतु गांवों में घर-घर कौन-सी किताब पहुंची है? इसका कोई जवाब नहीं मिलता। इसके विपरीत तुलसी-रामायण जैसी कृति कभी से घर-घर पहुंच चुकी है। मैंने सुना है कि रवीन्द्रनाथ जैसे महाकवि की रचनाएं भी बंगाल के गांवों में नहीं पहुंच सकी हैं। वे केवल ऊपर के वर्गों

तक ही पहुंच सकी है। परंतु संतों की वाणी जरूर गांवों में पहुंच गई है। इसका कारण यही है कि अभी साहित्य केवल शिक्षितों के लिए ही लिखा जाता है। सर्वसाधारण जनता से उसका कोई संपर्क नहीं हो सका है।

घोर तिमिरघन निबिड़ निशीथे।
पीड़ित मूर्च्छित देशे ।
जाग्रत छिल तव अविचल मंगल।
नत नयने अनिमेषे ॥

कितना सुंदर है यह काव्य ! लेकिन उसकी भाषा सर्वसाधारण जनता की भाषा नहीं है। संतों की भाषा जनता की भाषा थी, क्योंकि वे साधारण जनता के थे, उसीमें से निकले थे। हमारे साहित्य का निर्माण पहले केवल शहरों के लिए होता है, उसके बाद गांव के लिए। इसका अर्थ यह है कि अंगरेजों के आने के बाद ही देश शहर और गांव इस प्रकार के दो कृत्रिम भागों में बंट गया है।

आप यदि गांवों से एक रुपया लेते हैं तो इस कर्ज को किसी-न-किसी रूप में आपको लौटाना ही चाहिए। कम-से-कम आठ आने तो लौटाने ही चाहिए न ? इमारत जिस बुनियाद पर खड़ी है, कम-से-कम उसे तो मजबूत रखना ही चाहिए न ? याद रहे, हमारी यह बुनियाद गांव है। उसका सुख-दुःख हमारे सुख-दुःख से अलग कैसे हो सकता है ? इसलिए खादी-ग्रामोद्योग की अत्यंत आवश्यकता है। सच पूछिये तो शहर और गांवों के भेद को दूर करना ही सच्चा कार्यक्रम है। शहरवालों की वृत्ति यदि ग्रामीण हो सके तो वे समझ जायंगे कि गांव उनकी माता है और उसीके लिए उन्हें जीना तथा मरना है। यदि इस दृष्टि से देखेंगे तो खादी और ग्रामोद्योग का नया चित्र आपको दिखाई देगा। इसके दूसरे भी पहलू हैं। परंतु यह पहलू ऐसा है, जो आसानी से समझ में आ सकता है।

एक बात स्त्री-पुरुषों के भेद की है। हम मानते हैं कि दूसरे राष्ट्रों में स्त्रियों का स्थान पुरुषों की अपेक्षा गौण है। परंतु दूसरे राष्ट्रों में क्या है, इसका खयाल हम क्यों करें ? हम अपना दोष दूर कर देंगे तो दूसरे अपने

दोष खुद-ब-खुद सुधार लेंगे। हमारे यहां शास्त्रकारों के ऐसे वचन भी हैं, जिनमें स्त्रियों को पुरुषों की बराबरी का स्थान दिया गया है। परंतु आज हमारे यहां स्त्री-पुरुषों में भेद है, इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता। इन दोनों में जितने कृत्रिम भेद हैं, उन सभीको हमें अवश्य ही दूर कर देना चाहिए।

इसी प्रकार छुआछूत के भेद को भी हमें दूर करना है। मैंने प्रारंभ में ही पूछा था कि इस शिविर में हरिजन कितने हैं ? (बताया गया था कि ११ हरिजन और ३ मुसलमानों-सहित कुल २०० स्वयंसेवक शिविर में हैं।) हमारा व्यवहार ऐसा होना चाहिए कि हमारे बीच कोई भेद रहे ही नहीं। मेरी राय तो यह है कि हर घर में एक हरिजन लड़का नौकर के रूप में नहीं, औरस पुत्र के रूप में रहना चाहिए। घर में तीन लड़के हों तो चार समझकर उसकी सारी जिम्मेदारी उठानी चाहिए। लोग मुझसे प्रायः पूछते हैं कि कोई ऐसी देश-सेवा बताइये, जो हम घरबैठे कर सकें। तो मैं तुरंत कहता हूं कि एक-एक हरिजन लड़का अपने घर में रख लीजिये। तब वे औरतों की आड़ में अपनी कमजोरी को छिपाने लगते हैं। मैं कहता हूं कि अस्पृश्यता-निवारण के काम में जितनी देरी होगी उतनी ही देरी स्वराज की प्राप्ति में होनेवाली है। हमारे नेता कहते हैं कि हिंदू-मुसलमानों का भेद अंगरेजों ने पैदा किया है। पर मैं पूछता हूं, छुआछूत को दूर करने में अंगरेज आपको कहां रोक रहे हैं ? अगर उनकी तरफ से इसमें कोई रुकावट नहीं और आप उसे धीरे-धीरे दूर करना चाहते हैं तो स्वराज भी धीरे-धीरे मिलेगा।

मजदूरों के नेता पंडित नेहरू से कहते हैं कि ज़रा धीरे चलिये, हमें मौका तो दीजिये। इसी प्रकार अगर हम भी हरिजनों से कहेंगे कि ज़रा सब्र कीजिये, तो जैसाकि अम्बेदकर कहते हैं, वे यही समझेंगे कि हमारी नीयत ही ठीक नहीं है। यहां महाराष्ट्र के हरिजनों में अम्बेदकर की ही बात क्यों सुनी जाती है, इसीलिए कि अम्बेदकर उन्हींमें से हैं। हम अंगरेजों को गालियां दे सकते हैं तो हरिजन भी हमें गालियां दे सकते हैं। यदि मैं

हरिजन होता तो अभी तक क्या कर गुजरता, कह नहीं सकता। शायद मेरी अहिंसा भी विचलित हो जाती। कितनी लज्जाजनक अवस्था है यह! बिल्ली और कुत्ते भी हमारे पास आ सकते हैं, परंतु अपने हरिजन भाइयों पर हमने अनेक प्रकार की सख्त पाबंदियां लगा रखी हैं। क्या इन सबको सहा जा सकता है?

इसलिए रचनात्मक कार्यक्रम में अस्पृश्यता-निवारण का महत्व बहुत अधिक है। सारा-का-सारा रचनात्मक कार्यक्रम प्रेम का कार्यक्रम है। आपको इस दृष्टि से ही देखना चाहिए और जितना भी अधिक इसपर अमल कर सकें, करने का प्रयत्न करना चाहिए।

: ५ :

हमारी धर्म-हीनता

हम कहते हैं कि भारत धर्म-प्रधान देश है। यह हमारी पुण्य-भूमि है। ऐसा समय-असमय हम अभिमान प्रकट करते रहते हैं। बाहर के लोग भी हमारे बारे में यही कहते हैं। उनके प्रमाण-पत्र से तो हम और भी फूल जाते हैं। प्रसिद्ध चीनी लेखक लिन युटांग ने लिखा है कि "भारत धर्म-भावना से अभिमन्त्रित तथा ईश्वरी मद्य से मतवाला (गॉड-इन्टॉक्सिकेटेड) देश है।" इस विषय में चीन और भारत में कितना अन्तर है, यह बताते हुए वह कहता है, "चीन भारत के दूसरे सिरे पर है। चीन अति व्यावहारिक है। भारत अति धार्मिक है। दोनों राष्ट्रों को अपना-अपना यह अतिरेक कम करना चाहिए।"

परन्तु आज हमारे देश की हालत क्या है ? हममें आज अति धार्मिकता दीखती है या वह आवश्यकतानुरूप है या धर्म-हीनता है ? लाखों लोग भूखे मर गये, फिर भी कालाबाजार जारी ही रहा। आज हमारी सरकारें आ गईं। फिर भी कोई खास फर्क नहीं दिखाई देता। एक मजदूर कह रहा था, "कन्ट्रोल का भाव है रुपये की पांच सेर ज्वार। बाहर के व्यापारी आते हैं और चार सेर के थोक भाव में चुपचाप माल ले जाते हैं और हम मजदूरों को फुटकर खरीदनी पड़ती है, इसलिए तीन सेर की मिलती है। आज कहते हैं, हमारा स्वराज है। यह कैसा स्वराज ? जहां कालाबाजार चलता है, वहां स्वराज कैसे हो सकता है ?" यह है उस अपढ़ ग्रामीण की कल्पना। हम 'पढ़े-लिखे' इसका क्या जवाब देंगे ?

एक बार एक खुदरा व्यापारी से बातचीत करने का प्रसंग आया। वह कहने लगा, "आप 'कालाबाजार-कालाबाजार' कहते हैं। परन्तु

हमारा तो यह सदा का धंधा है। कमाई के अवसर को खोनेवाला व्यापारी व्यापारी ही नहीं है। चीज सस्ते-से-सस्ते भाव में खरीदी जाय, और भाव ऊंचे-से-ऊंचा पहुंच जाय तबतक रखकर प्रत्यक्ष बेचते समय जिस भाव में बेचते बने, उस भाव में बेचना, यह हमारा हमेशा का नियम है। आज की हालत में यह लोगों को अखरता अधिक है, केवल इतनी-सी बात है और इसके लिए कोई इक्का-दुक्का व्यापारी जिम्मेदार है, सो बात नहीं। कुल मिलाकर आज की व्यवस्था ही इसके लिए जिम्मेदार है। इसे बदलने का काम सरकार का है। सरकार इसे ठीक नहीं कर पा रही। ऐसी हालत में आपके कहने के अनुसार कोई अकेला व्यापारी सरलता बरते तो वह हमारे धंधे की भाषा में 'प्रामाणिकता' नहीं, 'मूर्खता' होगी।"

यह है उस व्यापारी की बात। अपनी दृष्टि से उसने अपनी बात बिलकुल शुद्ध बुद्धि से कही थी। किन्तु उसकी बात सुनकर मैं विचार में पड़ गया। आज के काले बाजार को छोड़कर मैं हमेशा के सफेद बाजार पर विचार करने लगा। भारत के किसी भी शहर या गांव के बाजार में प्रतिदिन क्या होता रहता है? दुकानदार और ग्राहक एक-दूसरे की ओर किस दृष्टि से देखते हैं? दुकानदार अपनी चीज की उचित से अधिक कीमत बढ़ाकर बताता है, ग्राहक उसे उचित से कम मूल्य में मांगता है। कुछ देर चतुराई की पैतरेबाजी चलती है और अन्त में कुछ भाव तय होता है। क्या यही न भारत के बाजारों की स्थिति है? दूसरों की बात छोड़िये। परन्तु क्या दुकानदारों को कभी यह भी खयाल होता है कि बाजार में यदि एक बच्चा आ जाय तो उसे धोखा न दें? इसके विपरीत हमारे दुकानदार यही न समझते हैं कि कमाने का मौका यही है? और यह वृत्ति सब्जी बेचनेवाली ग्रामीण मालिन से लेकर व्यवसाय-विशारद व्यापारी तक में है। ग्रामीण उसमें इतना कुशल नहीं होता, शहरी कुशल हो जाता है। परन्तु प्रयत्न तो दोनों का यही होता है।

नागपुर में एक बार हम बुनकरों के करघे देखने गये। खादी-आंदोलन उस समय शुरू ही हुआ था और बुनकरों को एक प्रकार की प्रतिष्ठा की

दृष्टि से देखा जाने लगा था। यद्यपि वे बुनते तो थे मिल का ही सूत, तथापि उन्हें आशा होने लगी थी कि अब हमारी तरक्की के दिन आनेवाले हैं। सींगों की बनी चिकनी (शटल) ढरकियों से वे बुनते थे। हम ढरकियां खरीदना चाहते थे। हमने भाव पूछा। उन्होंने देखा कि ये पढ़े-लिखे देशभक्त लोग हैं। उत्साह में आकर बुनाई का काम करना चाहते हैं। ढरकियों की कीमतों का इन्हें कहां से पता होगा? सींग की ढरकी देखने में सुन्दर होती है, इसलिए माकूल कीमत मांगने में हर्ज नहीं। उन्होंने एक ढरकी की कीमत छः रुपये मांगी। हममें से एक भाई कुछ जानकार थे। उन्होंने आठ आने बताये। मुझे कुछ धुंधली याद है कि अन्त में हमने वह ढरकी कुछ आनों में ही खरीदी थी।

एक बार मैं पैदल यात्रा कर रहा था। एक दिन दूध लेने के लिए हलवाई की दुकान पर गया। मैंने योंही पूछा, "दूध में पानी-वानी तो नहीं मिलाया?" वह बोला, "यह क्या कह रहे हैं आप? आज एकादशी है न?" मैंने कहा—"तब, क्या दूसरे दिनों में पानी डाला जाता है?" वह कहने लगा, "आटे में जिस प्रकार नमक डाला जाता है, उसी प्रकार व्यापार में कुछ असत्य जरूरी होता है। इसके बगैर व्यापार चल ही नहीं सकता।" जो लोग अपने-आपको वास्तविक रूप में धार्मिक समझते हैं, वे भी कहते सुने गए हैं कि व्यापार को धर्म के साथ नहीं मिलाया जा सकता। धर्म के समय धर्म और व्यापार के समय व्यापार हो। यों वे दान-धर्म करेंगे, कोई दुखी नजर आया तो दयाभाव भी दिखायेंगे, परन्तु व्यवहार में सत्य को स्वीकार करने के लिए वे कभी तैयार नहीं होते।

इस प्रकार अपने नित्य के व्यवहार में जिन्हें असत्य का उपयोग करने की आदत हो जाती है, उन्हें कालेबाजार में कोई खास कालापन दिखाई नहीं देता। जिस राष्ट्र के बाजार में असत्य चालू सिक्के के समान है, उसके पतन की भी कोई सीमा है? हम मानते हैं कि दोसौ वर्ष तक पराधीनता में रहने का ही यह परिणाम है। फिर भी परिणाम चाहे जिस किसीका हो, परन्तु इस नैतिक हानि की ओर ध्यान न देने से काम नहीं होगा।

मतलब यह है कि हमें स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि आज हम अत्यंत धर्महीन हो गये हैं और जो भी उपाय-योजना करनी हो, बहुत सोच-समझकर, दूर दृष्टि से करनी चाहिए। केवल आतंक उत्पन्न करनेवाले तात्कालिक उपाय से काम नहीं चलेगा। सारी समाज-रचना को बदलकर साम्य पर अधिष्ठित नई अर्थ-व्यवस्था करनी होगी। इतने से भी काम नहीं चलेगा। अपनी धार्मिक कल्पनाओं का भी हमें संशोधन करना होगा। केवल भूतदया न रखकर व्यवहार में हमें सत्य को स्थापित करना चाहिए। आज केवल व्यापार-व्यवसाय में ही नहीं, साहित्य, देश-सेवा और धर्म के क्षेत्र में भी असत्य उजले मुंह से घूम रहा है। वहां से उसे निकाल बाहर किया जाना चाहिए, नहीं तो इन सारे क्षेत्रों में जबतक उसका निर्भयता के साथ संचार होता रहेगा, केवल दण्ड के भय से अथवा भूतदया के नाम पर राष्ट्र पर छाया हुआ यह महान संकट टल नहीं सकेगा। समस्त विचारकों, समाज-सेवकों, धर्म-साधकों, शिक्षा-शास्त्रियों, कार्यकर्ताओं और प्रबन्धकों को मिलकर यह काम करना चाहिए।

: ६ :

आज के युग में समत्व

भारत की आज की स्थिति बड़ी कठिन है। हमारे हाथों में सत्ता के आते ही क्या-क्या घटनाएं हो रही हैं, उन्हें आप जानते ही नहीं हैं। आज स्वराज बिलकुल नजदीक-सा आ गया है। परंतु अब यह आशंका भी होने लगी है कि कहीं वह फिर दूर न चला जाय। इसलिए मैं कहता हूं कि भारत के स्वराज का प्रश्न मूलतः हमारी सामाजिक एकता का प्रश्न है। यदि हम एक होकर रहते हैं, तो स्वराज हमारे हाथों में है। वह कभी जा नहीं सकता। परंतु यदि हममें फूट पड़ गई तो वह दुर्लभ हो जायगा।

गांधीजी ने अपने जीवन के द्वारा पिछले पच्चीस वर्षों में हमसे यही बात कही। परंतु इतने दिनों के प्रचार और प्रयत्नों के बाद भी हम देखते हैं कि भारत के लोग अभी जगे नहीं हैं। गांधीजी ने हमको एक शब्द दिया—'अहिंसा'। अहिंसा का अर्थ निष्क्रियता है ही नहीं। अहिंसा एक महान शक्ति है। शक्ति की उपासना करनी पड़ती है। अहिंसा की उपासना का अर्थ क्या है? यही कि भारत में हम जितने भी लोग रहते हैं, सबको भाई-भाई की तरह रहना चाहिए। आपस में प्रेम का व्यवहार करना चाहिए। हम किसीको न नीच समझें, न किसीको ऊंचा ही; न किसीको दबायें, न किसीसे डरें। यह है अहिंसा की उपासना। इस प्रकार हम जरूर बलवान हो सकते हैं। फिर भारत को किसी भी शस्त्र की जरूरत नहीं रहेगी। परंतु इसके विपरीत हम प्रेम से नहीं रहेंगे तो भारत में जितने भी प्रश्न खड़े होंगे उनका निर्णय मार-पीट और हिंसा के द्वारा ही करना पड़ेगा, यानी यही होगा कि तीसरी सत्ता का राज्य रहेगा।

इसलिए मेरा तो शस्त्र-शक्ति पर लेशमात्र भी विश्वास नहीं है। शस्त्र

दुर्बल होता है। उसमें अपनी कोई शक्ति नहीं होती। हम अपना बल उसमें देते हैं तब उसमें बल आता है। तब उसे अपनी शक्ति देने के बजाय हम अपने-आपको ही यह बल क्यों न दें? इसीलिए गांधीजी ने आत्मशक्ति हमारे सामने रक्खी।

हरिजनों और सवर्णों का भेद मिटे, इसके लिए गांधीजी ने सन् १९३२ में उपवास किया था। इतने समय में अस्पृश्यता कुछ ढीली अवश्य हो गई है, परन्तु निर्मूल नहीं हुई। मुझे ऐसा लगता है कि अब हमारे लोगों के मन तैयार हो गये हैं। कुछ प्रयत्न किया जाय तो अस्पृश्यता दूर हो सकती है।

सर्व-सामान्य जनता में सदा ही एक प्रकार की जड़ता रहती है। इसे शास्त्र में 'इनर्शिया' कहते हैं। इनर्शिया समाज की स्थिरता के लिए कुछ लाभप्रद भी होता है। इनर्शिया के माने हैं पूर्वस्थिति का बना रहना। यंत्र जब बंद हो जाता है तब बंद ही पड़ा रहता है, और चलता है तो चलता ही रहता है। उसकी स्वतंत्र शक्ति नहीं होती। इसी प्रकार इनर्शिया के कारण जनता को स्वतंत्र रूप से कुछ सूझ नहीं पड़ता। परन्तु नेता यदि कुछ चालना दे दें तो जनता में भी कुछ हलचल शुरू हो जाती है। एक गांव में हरिजनों के लिए मंदिर खोल दिया गया, क्योंकि वहां के बड़े लोग अनुकूल थे। दूसरे गांव में यह नहीं हो सका, क्योंकि वहां के बड़े लोग अनुकूल नहीं थे। परन्तु इस प्रकार हमारा काम नहीं होगा। मैंने सुना है कि मद्रास और उत्कल (उड़ीसा) में कुछ मंदिर हरिजनों के लिए खोले जा रहे हैं। महाराष्ट्र में भी कुछ मंदिर हरिजनों के लिए खोले जा रहे हैं। परंतु इस समय तो सारे-के-सारे मंदिर खुल जाने चाहिए। आज मैं गणित से काम नहीं लेना चाहता। यह क्रांति का समय है। क्रांति धीरे-धीरे नहीं होती। सारे मंदिर, सारे होटल, सारे सार्वजनिक स्थान हरिजनों के लिए एकदम खुल जाने चाहिए।

मेरी भविष्यवाणी है कि जिस दिन भारत से अस्पृश्यता दूर हो जायगी उसी दिन हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े भी अपने-आप समाप्त हो जायंगे। इतिहास के जानकारों को यह बात समझ में आ सकती है। कर्नाटक के एक

सज्जन कह रहे थे कि हमारे यहां लिंगायत-ब्राह्मणवाद बहुत है। महाराष्ट्र में ब्राह्मण-ब्राह्मणेतरवाद है। परन्तु जिस दिन अस्पृश्यता दूर होगी उस दिन ये सारे वाद अपने-आप समाप्त हो जायंगे । जो लोग सबसे अधिक दुखी और दबे हुए हैं, उनको ऊपर उठाते ही अन्य छोटे-मोटे भेद-भाव सहज ही मिट जायंगे। उनको मिटाने के लिए स्वतंत्र प्रयत्न करने की जरूरत नहीं रहेगी।

होटलवाले कहते हैं, "हरिजनों को कैसे अंदर आने दें?" मैं कहता हूं— "अरे भाई, आप तो सेवक हैं न ? सेवक का धर्म क्या है ? क्या डाक्टर अस्पताल में आनेवाले की जात-बिरादरी की पूछताछ करते हैं ? उनका धर्म और कर्तव्य है कि वहां जो भी रोगी आवे, उसकी सेवा करें । इसी प्रकार आप होटलवालों का धर्म है कि जो भी भूखा आये, उसे खाना दें। खाना देना एक जन-सेवा है। मेहनत के पैसे ले लिये, इस कारण उसमें से सेवा नहीं चली जाती। इसमें तो जात-पांत पूछने का प्रश्न ही खड़ा नहीं होना चाहिए। खैर, मान लीजिये कि आपने किसीसे जात पूछी और उसने हरिजन होने पर भी कह दिया कि मैं मराठा हूं, तो आप कैसे पहचानेंगे ? इसलिए मैं जात-पांत पूछना एक वाहियात चीज समझता हूं। सच्ची धार्मिक वृत्ति का आदमी भूखे को प्रेम से खिलायेगा। वह जात-पांत का विचार नहीं करेगा। दुखी मनुष्य का दुःख दूर करना दयावान मनुष्य का काम है। यह हमारी पुरानी परंपरा है।

जो बात होटल के लिए है, वही बात मन्दिर के लिए भी है। यों तो सर्वत्र ईश्वर है, परन्तु मनुष्य मन्दिर में भावना लेकर दर्शन के लिए जाता है। पुजारियों को समझना चाहिए कि यदि एक आदमी भगवान से मिलने के लिए आया है तो उनका काम भगवान और उसके भक्त को मिला देना है। मन्दिर में पापी को भी आना चाहिए और अपने पाप के लिए क्षमा मांगनी चाहिए और भक्त को भी आना चाहिए और भक्ति भाव से प्रणाम करना चाहिए। 'तू आ' और 'तू मत आ' यह कहनेवाला मैं कौन ? हरिजन पंढरपुर को जाता है और उसे पांडुरंग के दर्शन भी नहीं हो पाते।

मन्दिर के कलश को देखकर वह लौट आता है और मांस खाना छोड़ देता है। ऐसे अनेक हरिजनों को मैंने देखा है, परन्तु उन्हें मंदिर में नहीं आने दिया जाता। इसके विपरीत दूसरी जातियों के लोग, जो मांस भी खाते होंगे, मंदिर में आते हैं। यह कैसा न्याय ?

यह सब विवेक के अभाव में होता है। मैं तो स्पष्ट रूप से कहता हूं कि धर्म, संस्कृति और पंथों की केवल समत्व की कसौटी पर ही परीक्षा होती है। जो विचार समत्व की कसौटी पर खरा नहीं उतरेगा वह टिक नहीं सकेगा। भिन्न-भिन्न युगों में भिन्न-भिन्न गुणों की सत्ता चलती है। इस युग का सम्राट् समत्व है। इसलिए धर्म के नाम पर भेद आज संसार को कदापि बरदाश्त नहीं होगा। मुझे बहुत-से हिन्दूसभावाले मिलते हैं और कहते हैं कि कांग्रेस हिन्दुओं की रक्षा नहीं कर सकती। उनसे मैं पूछता हूं कि आप क्यों नहीं करते ? मुसलमानों के द्वेष पर अपनी इमारत खड़ी करने की अपेक्षा हिन्दू समाज में लगे हुए फूट के कीड़ों को मारने में आप अपनी शक्ति क्यों नहीं लगाते ? सारे भारत में अब भेद नाम की चीज का कोई उपयोग नहीं है।

परंतु जब मैं भेद दूर करने की बात कहता हूं तो कोई मेरा मतलब यह न समझे कि मैं विशेषताओं को मिटा देना चाहता हूं। स र ग म के स्वर-भेद से जिस प्रकार सुन्दर संगीत निकलता है, उसी प्रकार हमारी इन असंख्य विशेषताओं में से भी एक सुन्दर संगीत निकलना चाहिए।

भारत में अनेक धर्म, अनेक जातियां, अनेक भाषाएं और अनेक पंथ हैं। लोग कहते हैं कि कैसी अजीब खिचड़ी है ? मैं कहता हूं यह खिचड़ी नहीं, वटवृक्ष है। रवीन्द्रनाथ ने तो इसे महासागर की उपमा दी। महासागर पर जिस प्रकार अनंत लहरें उठती रहती हैं, उसी प्रकार यहांपर भी अनेक मानव-समाज आन्दोलन करते रहते हैं। यह हमारा वैभव है। भगवान अगर मुझे हाथ, पांव, कान, नाक, आंखें इस प्रकार विविध अवयव न देकर केवल एक मांस-पिण्ड ही बना देता तो मेरी क्या हालत होती ? इसके विपरीत

यदि मेरे ये विविध अवयव आपस में लड़ने लग जायं तो मेरी क्या हालत होगी ?

भारत में बहुत-से भेद हैं, क्योंकि हमारा यह देश बहुत प्राचीन है। पश्चिम के ये अनेक राष्ट्र उसके सामने बच्चे हैं। भारत में हूण आये, यहूदी आये, पारसी आये, मुसलमान आये। और ईसाई आदि सभी आये। यह एक बहुत बड़ा संग्रहालय है। यहांपर अनेक शास्त्र, अनेक विद्याएं, तथा कलाएं विकसित हुई हैं। इसीलिए मैं कहता हूं कि यह देश बड़ा वैभव-शाली है। परन्तु हृदय में प्रेम का उदय होना चाहिए, तभी इसकी शक्ति प्रकट होगी।

शक्ति से मुझे शक्तिदेवी की याद आती है। शक्तिदेवी की अनेक भुजाएं होती हैं, परंतु हृदय एक ही होता है। विराट पुरुष के हजारों हाथ कहे गए हैं, परंतु हृदय एक ही बताया गया है। इसी प्रकार हमारा सबका हृदय एक ही होना चाहिए। यदि ऐसा होगा तो स्वराज हाथ में ही है, अन्यथा समझिये हाथों में आया हुआ स्वराज भी चला जायगा।

: ७ :

सेवा द्वारा क्रांति

आपके इस प्रान्त में मुझे पच्चीस वर्ष हो गये । परन्तु इतने वर्षों में आपके सामने बोलने का यह पहला ही प्रसंग है। मराठी में कहावत है— **"भाऊ-भाऊ शेजारीं भेंट नाहीं संसारीं ।"** इसी तरह आप और मैं इतने पास होते हुए भी मैं यहां नहीं आ सका, क्योंकि मैं रहता हूं काम में मग्न और दूसरे बोलनेवाले लोग काफी हैं। मैं यथासंभव बोलने को टालता हूं। लोग कहते हैं कि आपको बोलना तो आता है, फिर बोलते क्यों नहीं ? मैं कहता हूं, "मैं बोलना जानता हूं, इसीलिए नहीं बोलता। अगर बोलना याद नहीं होता तो बहुत बोलता।" वे कहते हैं, "आपको बोलना चाहिए।" मैं कहता हूं, "मेरी एक शर्त है। आप बोलना बन्द कर दीजिये, फिर मैं बोलूंगा।"

यदि आप विचार करें तो आप देखेंगे कि भारत में कभी काम करने की जितनी जरूरत नहीं थी उतनी आज है। हम कहते हैं कि आज हमारे हाथों में सत्ता आ गई है, परन्तु सच्ची सत्ता अभी नहीं आई है। अभी तो हम केवल स्वराज के मार्ग पर आये हैं। सत्ता के हाथ लगते ही अनेक भयों का निर्माण होता है। यदि इन भयों को टालना हो तो निरन्तर सेवा करते रहना चाहिए। कांग्रेस का यह दावा था और आज भी है कि वह गरीबों के लिए स्वराज चाहती है। गरीबों की सेवा का दावा करनेवाली और उनके लिए लड़नेवाली इतनी बड़ी संस्था सारे संसार में नहीं है और यदि कांग्रेस का इतना बड़ा दावा है तो उसे सही सिद्ध करने की आज सबसे बड़ी आवश्यकता है। आज ऐसी स्थिति है कि जिस प्रकार नदियां चारों ओर से नीचे की ओर दौड़कर जाती हैं, उसी प्रकार जनता के समस्त सेवकों को आज

चारों तरफ से सेवा के लिए दौड़ पड़ना चाहिए। यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो जनता निरंकुश हो जायगी और कार्यकर्ताओं को आलस्य घेर लेगा। यह सब सेवा से ही टाला जा सकता है। सेवा के बगैर ये दोष दूर नहीं होंगे।

सर्वसाधारण लोग निरंकुश हो जायंगे, मेरे इस कथन का अनुभव अभी से होने लगा है। कितनी छोटी-छोटी बातों पर हड़ताल हो जाती है ? इसमें आश्चर्य की कोई बात ही नहीं। सैकड़ों वर्षों से दबी हुई जनता इससे अधिक उच्छृंखल नहीं हुई, यही आश्चर्य की बात है। यह सब सेवा से ही टल सकता है। मार-पीट, उपद्रव आदि को रोकने का सेवा को छोड़कर दूसरा कोई उपाय नहीं है।

कांग्रेस का दावा ग्रामराज की स्थापना करने का है। गांवों को संगठित और स्वावलम्बी करना है। यदि ऐसा है तो हमें इस बात की चिंता रखनी चाहिए कि आज एक भी आदमी भूखा न रहे। गांव की सफाई, शिक्षण आदि का प्रबन्ध कौन करेगा ? यदि हम सोचेंगे कि सरकार सबकुछ करेगी तो यह गलत होगा। सरकार के हाथों में जो सत्ता आई है, केवल उसके भरोसे अगर रहेंगे तो हम परावलंबी बन जायंगे। इसलिए हमें सबसे पहले स्वावलम्बी बनना चाहिए। जिन दिनों हमारे हाथ में सत्ता नहीं थी, उस समय गरीबों में जाकर काम करने में अनेक प्रकार की रुकावटें आती थीं। आज सरकार आपकी है। इसलिए गांवों के लोगों से जाकर हमें कहना चाहिए कि भाइयो, अब आप अपनी स्वतंत्र सरकार बना लीजिये। अपना न्याय आप ही करें और अपनी शिक्षा आप ही संभालें। अपने गांव का सारा काम खुद आपको कर लेना चाहिए।

कोई कहता है, मैं जेल में गया था, मुझे चुनकर क्यों नहीं भेजते ? मैंने इतने-इतने काम किये, फिर मुझे अमुक पद क्यों नहीं दिया जाता ? यदि इसी प्रकार सब कोई अपने हक और उसका उपभोग करने की वृत्ति जताने लगे तो समझ लीजिये कि क्षय का प्रारंभ हो गया। ज़रा से त्याग से यदि भोग-वृत्ति बढ़ती है तो यह स्वराज टिकनेवाला नहीं है। हमें सिर्फ

अपने स्वराज की रक्षा ही नहीं करनी है, बल्कि समस्त संसार की स्वतंत्रता को सिद्ध करना है। झण्डे के गीत के अनुसार हमें विश्व-विजय करना है, यानी समस्त संसार में एक भी राष्ट्र गुलाम नहीं रहेगा, ऐसी स्थिति बनानी है। जबतक यह नहीं होता, हमारा कार्य अधूरा ही माना जायगा और यदि यह सब करना है तो कार्यकर्ताओं के अलसाने से काम नहीं चलेगा। इसलिए मैंने कहा है कि आज सेवा करने का समय है। जिस-जिसके मन में लगन है, उसे अपने-आप जो भी सेवा बन पड़े, उसे करने के लिए दौड़ पड़ना चाहिए।

एक सज्जन ने मुझसे पूछा, "हम गृहस्थ हैं। हम बहुत अधिक तो नहीं कर सकते, परंतु यह बताइये कि घर पर बैठे-बैठे हम क्या कर सकते हैं?" मैंने कहा, "घर पर बैठे-बैठे आप जो कर सकते हैं, ऐसा ही काम आपको बताऊंगा। अपने घर में एक हरिजन बच्चे को रख लीजिये। आपके तीन लड़के हैं तो उसे चौथा लड़का समझ लें। क्या चार लड़के होते तो उसे आप छोड़ देते?" तब यह सज्जन कहने लगे, "फिर तो लोग हमें गांव में रहने भी नहीं देंगे।" मैंने कहा, "यही तो हमें करना है। इसीको तो क्रांति कहते हैं।" घर से शुरू कर ठेठ समाज-स्तर तक पहुंच जाय, हमें ऐसा आंदोलन करना चाहिए। लोग कहते हैं, "हमारे मन में अस्पृश्यता नहीं है।" मैं कहता हूं, "आपके मन को कौन पूछता है? आप अपने घर में हरिजन को रखने के लिए तैयार हैं क्या?" तब वे कहते हैं, "घर में मां राजी नहीं होतीं।" मैं कहता हूं, "मां हरिजन को जहां बैठायें, वहां आप भी बैठें।" सच तो यह है कि यह सब टालने की बात है।

मुझसे विद्यार्थी हमेशा कहते हैं, "हमें क्रांतिकारी कार्यक्रम चाहिए।" मैं कहता हूं, "क्या कविता बनाकर दे दूं? क्या वह क्रांतिकारी कार्यक्रम कहलायेगा?" यदि विद्यार्थी मन में धारें तो वे बहुत-कुछ कर सकते हैं। भारत की गरीब जनता तपी हुई जमीन के समान तप्त हो गई है। वह बारिस की भांति ही सेवकों की राह भी देख रही है। लोग मुझसे कहते हैं, "जनता कातने के लिए तैयार नहीं है।" परंतु मेरा अनुभव भिन्न है। मैंने

एक कार्यकर्ता को किसी गांव में भेजा। वहां सभा बुलाई गई। प्रस्ताव स्वीकार किया गया कि हमें अपने गांव में ही कपड़ा तैयार करना है, इस-लिए कताई सिखाने और कपड़ा बुनवाने का प्रबन्ध कर दिया जाय। लोग प्रस्ताव करके बैठे नहीं रहे। सबके दस्तखत लेकर वह प्रस्ताव मेरे पास भेजा गया। जनता के पास आप जाइये, वह आपकी राह देख रही है।

मैं अपनी सारी शक्ति और भावना को बटोरकर आपसे कहना चाहता हूं कि यदि स्वराज सचमुच आ गया है तो जिस प्रकार सूर्योदय के समय सारे पक्षी एकत्र हो जाते हैं उसी प्रकार स्वराज के सूर्योदय के बाद भी चारों तरफ से कार्यकर्ता एकत्र होने लगेंगे। लोग आपकी बात मानने लगेंगे और तब क्रांति आसान हो जायगी। आज क्रांति नहीं हुई है। क्रांति करना तो अभी बाकी है।

: ८ :

सत्ता और सेवा

संस्कृत में 'सत्ता' के अर्थवाला अच्छा-सा शब्द नहीं है। कृत्रिम शब्द है, परन्तु सिद्ध शब्द नहीं है। वैसे सत्ता शब्द भी है तो संस्कृत का ही, परन्तु संस्कृत में उसका अर्थ केवल अस्तित्व है। अस्तित्व तो जिसका है उसीमें होता है। मेरा अस्तित्व मुझमें और संसार का अस्तित्व संसार में। एक की दूसरे पर सत्ता हो, यह एक शोध ही है।

यह सत्ता आई कहां से ? इसका अधिष्ठान कहां है ? मां की सत्ता बच्चे पर होती है, क्योंकि बच्चा असमर्थ होता है, अनन्यगतिक होता है। परन्तु बच्चे की भी मां पर सत्ता होती है, क्योंकि ऐसी सत्ता को बरदाश्त करना मां को अच्छा लगता है। मां असमर्थ नहीं है।

मां की बच्चे पर सत्ता होती है, वह लड़के को अच्छी लगती है। बलवान की दुर्बल पर सत्ता रहे, तब भी वह उसे अच्छी लगती हो सो नहीं। वह लाचारी की बात होती है। लाचारी की सत्ता और अच्छी लगनेवाली सत्ता, बिलकुल अलग-अलग चीजें हैं। इनको प्रकट करनेवाले अलग-अलग शब्दों की जरूरत है।

वैसा शब्द आज हमारे पास नहीं है। इसलिए एक को हम बल की सत्ता कहें और दूसरी को सेवा की सत्ता कहें। सेवा की सत्ता घर-घर चलती है, परन्तु समाज में तो आज तक बल की सत्ता ही चलती रही है। लोगों ने उसे देवत्व प्रदान कर दिया है और शक्ति के नाम से उसकी पूजा भी की जाती है। वह थोड़ी-बहुत सेवा भी करती है, परन्तु शक्ति के नाम से विचरण करती है।

परन्तु अभीतक कोई सेवा की देवी का निर्माण नहीं कर सका। घर

के बाहर, समाज में सेवा हुई ही न हो, सो बात नहीं। परन्तु देवी के समान उसे प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हुई। कारण स्पष्ट ही है। सेवा यदि स्वयं देवी बन जायगी तो उसकी सेवा कौन करेगा ?

सही बात तो यह है कि विद्या, लक्ष्मी और शक्ति देवी बन बैठी हैं। ये तो सेविका बनने-योग्य हैं और सच्ची देवी तो सेवा ही है। विद्या, शक्ति और लक्ष्मी तीनों को सेवा की सेवा में अपने-आपको अर्पण कर देना चाहिए। सेवा की दासी बनकर रहने ही में उनका देवत्व है। वह दासीपन यदि उन्होंने छोड़ दिया तो वे देवी न रहकर राक्षसियां बन जायंगी। आज उनका यही रूप है।

आज लक्ष्मी कमल पर बैठी है, सरस्वती सितार बजाती है, पुस्तक पढ़ती रहती है या मोर से खेलती रहती है और शक्ति शस्त्र धारण करके दुर्बलों का बलिदान लेती है। ऐसी देवियों की आज संसार में पूजा होती है और समर्थ रामदास की भाषा में कहें तो असली देवी को चोर उड़ाकर ले गये हैं।

विद्या, शक्ति, लक्ष्मी काफी नहीं थीं। इसलिए अब लोगों ने व्यवस्था देवी और संगठन-देवी इस प्रकार नई देवियों को ही कहीं से ढूंढ निकाला है। आश्रमों से लेकर सेनाओं तक सर्वत्र अनुशासन का बोलबाला हो रहा है। कवायत में अनुशासन चाहिए। शिक्षा में अनुशासन चाहिए। भक्ति में भी अनुशासन चाहिए। मतलब यह कि मुख्य देवी के खो जाने से माया-देवियों का जोर बढ़ गया है। सूर्य के डूब जाने पर नक्षत्रों को नाचना ही चाहिए।

अब तो ये देवियां निजावलम्बी बन गई हैं। 'अपने लिए ही आप' इसे कहते हैं निजावलम्बन। कंजूस कहता हैं 'पैसे के लिए पैसा', खर्च के लिए नहीं, और सेवा के लिए तो कदापि नहीं। साहित्यिक कहता है,'साहित्य के लिए साहित्य', जीवन के लिए नहीं। कलाकार कहता है, 'कला के लिए कला'। वह नहीं जानता कि वह काल के लिए होती है। काल उसे खा जाता

है। सेवा के लिए बरती जाती तो उसका सदुपयोग होता।

सत्तावादी कहते हैं सत्ता शासनकर्त्री देवी है। 'वह उसीके लिए' है। सत्ता की प्राप्ति के लिए सेवा हो तो चल सकता है। सत्ता को कायम रखने के लिए भी सेवा की जा सकती है। परन्तु सत्ता 'स्वयं-भू' है।

सारे साम्राज्यवादी इस विषय में एकमत दिखाई देते हैं।

: ९ :

गो-सेवा की दृष्टि

जेल में अध्ययन करने के लिए काफी समय मिला है। वहांपर बहुत-से विषयों का अध्ययन होता रहता था। वहां भारतीय समस्याओं के प्रत्येक पहलू पर विचार होता था। उसमें गो-सेवा के विषय में पठन-पाठन और विचार-विनिमय होना भी स्वाभाविक है। इस सिलसिले में एक जगह यह पढ़ने में आया कि भारत में प्रति व्यक्ति दूध की खपत सात औंस तक थी। लेकिन तीन-भार वर्ष के युद्ध के बाद वह घटकर पांच औंस तक रह गई। इस पुस्तक में भारत के प्रत्येक प्रांत की फी आदमी खपत की औसत भी दी गई थी। मध्यप्रदेश के एक भाग में यह औसत फी आदमी एक औंस अर्थात ढाई तोले बताई गई थी। हम लोग इसी मध्य प्रदेश में रहते हैं, गांवों की सेवा करते हैं और हमारा दावा है कि हमें यहां के गांवों के बारे में जानकारी है। फिर भी यह एक औंसवाली बात पढ़कर मुझे विश्वास नहीं हुआ। अधिक जांच-पड़ताल करने पर यह ज्ञात हुआ कि यह आंकड़ा सही था और सरकारी रिपोर्ट पर से ही लिया गया था। जेल से छूटने के बाद विचार किया कि हमारे आस-पास की हालत क्या है, यह तो देखें। हमने सुरगांव के आंकड़े एकत्र किये। वहां के आंकड़े एकत्र करना सरल और आवश्यक भी था, क्योंकि इस गांव में हम काम करते थे। ये आंकड़े जाड़े के दिनों के थे। इन दिनों में दूध अधिक होता है। गरमी के दिनों में इसका आधा भी दूध नहीं रह जाता। औसत तो साल-भर की होती है। जाड़े में उस गांव में दूध-उत्पादन की औसत फी आदमी चार औंस थी। इस मौसम में यदि दूध का उत्पादन फी आदमी चार औंस है, तो गरमी के दिनों में तीन औंस मानने में कोई हर्ज नहीं। फिर भी सरकार की इस एक औंस की

औसत से यह अधिक ही पड़ती है। मैं अपने मन में सोचने लगा कि यही गांव कैसे भाग्यवान निकला, जहां के निवासियों को सरकार की एक औंस की औसत से दो औंस दूध अधिक मिल रहा है। सोचने पर ध्यान में आया कि इस गांव के पास नदी है। इसलिए यहां चारे-पानी की सुविधा है। इस कारण इस गांव की हालत इतनी अच्छी है कि यहां के लोगों को औसत तीन औंस दूध मिल जाता है। अब आप विचार करें कि जिस देश में दूध का हिसाब औंसों में किया जाता है, उसकी हालत क्या होगी। लड़ाई के दिनों में इंग्लैंड में भी खाद्य पदार्थों की कमी महसूस की गई थी। वहां के खाद्य मंत्री ने निरुपाय होकर जनता से विनय की कि हम अधिक अन्न प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं, परन्तु लड़ाई के दिन हैं, इसलिए पहले के समान अन्न देना कठिन है और इसलिए कम-से-कम में चलाना चाहिए। अभी तक हम फी आदमी तीन पौंड दूध देते थे, परन्तु अब अढ़ाई पौंड से ही काम चलाना होगा। इंग्लैंड में तो लड़ाई के दिनों में प्रति व्यक्ति अढ़ाई पौंड दूध से काम चलाना पड़ा था, लेकिन भारत का तो सदा पांच औंस दूध से ही पेट भरता है। यह स्थिति उस देश की है, जहां लोग गाय को माता कहते हैं।

इसपर से किसीकी भी समझ में यह बात आ जायगी कि हमारे लिए गो-सेवा का महत्व कितना अधिक है। मेरे जैसे खादी-निष्ठ भी विशेष परिस्थिति में इस प्रकार की समाज-रचना की कल्पना कर सकते हैं, जिसमें सारे किसानों को दूसरे कामों में लगाकर और मिलों का राष्ट्रीयकरण करके देश अपनी कपड़े की जरूरत को पूरी कर ले। परन्तु हम यह तो कल्पना भी नहीं कर सकते कि दूध के बगैर हम कभी काम चला सकेंगे। इसलिए कहा जा सकता है कि भारत में दूध का सवाल खादी से भी अधिक महत्वपूर्ण है।

दूध का प्रश्न कितना महत्वपूर्ण है यह समझ लेने के बाद एक और बात समझ लेना जरूरी है। वह है गो-सेवा की दृष्टि। शुरू से दृष्टि को ठीक तरह से समझ लेने पर काम व्यवस्थित होगा, नहीं तो सारा काम अव्यव-

स्थित ही बना रहेगा। अव्यवस्थित काम में गति अधिक हो तब भी खतरा होता है। दृष्टि को ठीक तरह से समझ लेने पर प्रत्यक्ष काम में जो कठिनाइयां उपस्थित होंगी, उनपर विशेषज्ञ लोग विचार करेंगे और वे जो मार्ग सुझायेंगे उन्हें गो-सेवा-संघ जैसी संस्थाएं कार्यान्वित करने का प्रयत्न करेंगी।

गो-सेवा के काम में दो दृष्टियां हो सकती हैं। एक तो वह जो हिन्दुओं के मस्तिष्क और खून में है, अर्थात् गाय के प्रति पूज्य-बुद्धि। परंतु यह पूज्य-बुद्धि देश को कहांतक ले गई है, वह हमने देख ही लिया है। गाय की जितनी उपेक्षा और करुणा-जनक स्थिति इस देश में है ऐसी शायद ही किसी दूसरे देश में हो। यह सब पूज्य-बुद्धि के अभाव में हो रहा है, यह हम नहीं कह सकते। फिर ऐसा क्यों हो रहा है ? इसका कारण क्या है ? कारण यही है कि वह पूज्य-बुद्धि शास्त्रीय नहीं है। शास्त्ररहित श्रद्धा से काम नहीं होता। भगवान् ने हमें गीता में बताया है कि केवल श्रद्धा होना बड़ी बात नहीं है। किसी-न-किसी प्रकार की श्रद्धा तो हर आदमी में होती ही है। परंतु केवल सात्विक और शास्त्रीय श्रद्धा ही तारक होती है। ज्ञान-रहित अर्थात् अशास्त्रीय श्रद्धा से प्रगति नहीं हो सकती। हमें बचपन में सिखाया गया था कि एक अस्पृश्य को छूने से जो अपवित्रता आ जाती है, वह गाय को छू लेने से दूर हो जाती है। जो जड़ बुद्धि एक मनुष्य को अववित्र मानने को कहती है, वही एक पशु को मनुष्य से भी पवित्र मानने की बात कहती है। इस युग में यह बात मानने-योग्य नहीं कि गाय में सभी देवताओं का निवास है और दूसरे प्राणियों में अभाव है। इस प्रकार की अतिशयतापूर्ण मूर्तिपूजा को मूढ़ता ही कहना होगा।

दूसरी दृष्टि वैज्ञानिक पद्धति से काम करने की है। हमारी गो-सेवा की परख आर्थिक कसौटी पर की जानी चाहिए। जो बात इस कसौटी पर सही साबित नहीं होगी, वह संसार में नहीं टिक सकेगी। इसलिए यदि हमारी गो-सेवा आर्थिक कसौटी पर नहीं टिक सकती है तो उससे चिपटकर बैठे रहना उचित नहीं। उसे छोड़ देना ही ठीक होगा। गाय मनुष्य-समाज के लिए उपयोगी है और आर्थिक दृष्टि से लाभदायक है, यह हम सिद्ध करें

तभी हमारी गो-सेवा टिक सकती है। यही वैज्ञानिक दृष्टि है।

इन दो दृष्टियों में सदा झगड़ा होता रहा है। झगड़े का कारण यह है कि एक तरफ मूढ़ता है और दूसरी तरफ केवल आर्थिक दृष्टि है। केवल आर्थिक दृष्टि रखेंगे तो उसका अर्थ यह होगा कि जबतक गाय दूध दे तब-तक उसका पालन किया जाय और ज्योंही वह दूध देना बन्द कर दे उसे काटकर खा लिया जाय। आर्थिक दृष्टि से यही लाभदायी है, यह सिद्ध होगा। चमड़े की दृष्टि से भी कतल की गई गाय का चमड़ा अधिक उप-योगी होगा। गाय की उपयुक्तता समाप्त होते ही उसका जीवन भी समाप्त हो जाना चाहिए। यह केवल आर्थिक दृष्टि का परिणाम है। तब यदि उसका जीवन अपने-आप समाप्त न होता हो तो हमें उसे समाप्त कर देना चाहिए। पश्चिमवाले लोग यही करते हैं। जबतक गाय दूध देती है तबतक उसका पालन वे प्रेमपूर्वक करते हैं। उसे खिलाते हैं और दया-दृष्टि से भी काम लेते है और ज्योंही यह दूध देना बन्द कर देती है, उसे मार डालते हैं। इसमें भी वे कह सकते हैं कि उनकी दृष्टि दया की ही है।

ऐसी दशा में हम क्या करें ? हमारे पास वैज्ञानिक दृष्टि के अलावा भी एक और दृष्टि है। उसे ठीक-ठीक समझ लेना चाहिए। वह है हमारे भारतीय समाजवाद की दृष्टि। गाय को हमने अपने परिवार में स्थान दे दिया है, किन्तु उसे यह स्थान देने से पहले उसकी उपयुक्तता पर भी विचार कर लिया गया है। समाजवाद सारे मनुष्य-समाज का ध्यान रखता है। समाजवाद कहता है कि हर मनुष्य को उसके लायक काम दीजिये, उससे पूरा काम लीजिये, और उसे पूरा रक्षण दीजिये। भारतीय समाजवाद कहता है कि मनुष्य-समाज के साथ-साथ गाय को भी अपने कुटुम्ब में स्थान दीजिये, उससे पूरा-पूरा काम लीजिये और उसे पूरा-पूरा रक्षण भी दीजिये। हम जिससे पूरा-पूरा काम लेकर जिसे पूरा संरक्षण दे सकते हैं, भारत में ऐसा केवल एक ही जानवर है। वह है गाय। इसलिए भारतीय समाजवाद ने मनुष्य के साथ गाय को भी समाज का एक अंग मानने का निर्णय किया। परंतु यह करके उसने एक बहुत बड़ी जिम्मेवारी भी अपने सिर पर ले ली

है। वह जिम्मेवारी क्या है, इसका भी हमें विचार करना चाहिए।

एक सज्जन कह रहे थे कि यदि हम गाय और बैलों का संरक्षण नहीं करेंगे तो हमारे देश में ट्रैक्टर आवेंगे और यह अच्छा नहीं होगा। उनका यह कथन बिलकुल सही है। परंतु मैं पूछता हूं कि हम ट्रैक्टर का विरोध क्यों करते हैं ? क्या इसलिए कि हमारे यहां जमीन के छोटे-छोटे टुकड़े हैं, इसलिए यहां ट्रैक्टर नहीं चल सकेंगे ? यदि यही बात है तो क्या हमारे अन्दर इतनी भी बुद्धि और पुरुषार्थ नहीं है कि हम इन छोटे-छोटे टुकड़ों को एकत्र कर सकें। यदि सब टुकड़ों को नष्ट कर सारी जमीन को एक करना इष्ट हो तो उसका रास्ता भी मिल सकेगा। अंगरेजी में कहावत है न—"जहां चाह वहां राह"। तो, इस बारे में ऐसी कोई बाधा नहीं है, जिसे हम दूर नहीं कर सकते। गांवों के लोग यदि अशिक्षित हैं तो उन्हें पढ़ा-लिखा बनाया जा सकेगा। यदि इस चीज को वे जल्दी नहीं ग्रहण कर सके तो कुछ समय के बाद ग्रहण कर लेंगे। जमीन के छोटे-छोटे टुकड़े हैं, इस-लिए ट्रैक्टर नहीं चलाये जा सकते और ट्रैक्टर नहीं चल सकते, इसलिए बैल चाहिए, और यदि गायों की रक्षा नहीं की गई तो बैल नहीं मिल सकेंगे, इसलिए गो-रक्षा कीजिये, यह दलील निस्सार है। यह विचार के सामने नहीं टिक सकती। हमारी दलील इससे उलटी होनी चाहिए। हमारी दलील यह होनी चाहिए—भारतीय समाज ने गाय को अपने कुटुम्ब का एक अंग मान लिया है और उसका जबतक हम पूरा-पूरा उपयोग नहीं करेंगे तबतक हम उसको बचा नहीं सकते। यदि ट्रैक्टर लाते हैं तो बैलों को पूरा काम नहीं दे सकते। इसलिए गो-रक्षा जरूरी है। यह है सही युक्तिवाद।

हमारे देश में जमीन छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटी हुई है। इसलिए ट्रैक्टर चल नहीं सकते, यह दलील कमजोरी की है। इससे तो शायद कुछ दिनों के लिए ट्रैक्टरों का लाना टल जायगा। किन्तु दुर्बलता दूर होते ही—और उसे तो दूर करना ही होगा—ट्रैक्टर आ जायंगे। मैं तो कहता हूं कि गांवों की जमीनों की इन मेड़ों को तोड़कर उनकी काश्त बैलों की मदद से ही की

जानी चाहिए। न तो ट्रैक्टरों के भय से जमीनों की मेड़ें कायम रखनी चाहिए और न उसके लालच से उन्हें तोड़ना है। मैं कहता हूं कि गांव के हित की दृष्टि से ही गांव की खेती एक की जानी चाहिए। आज हमारे यहां हर खेत में एक-एक आदमी जागता है। उसे हमारे यहां जागल्या (रखवाली) कहते हैं। मैंने एक किसान से पूछा कि तू क्यों जागता है? उसने कहा, "इसलिए कि पड़ोसी के बैल मेरा खेत न चर जायं।" इस प्रकार सारे गांव के लोग चार महीने जागते रहते हैं। परंतु यदि सारे गांव की जमीन एक हो जाय तो यह सारी झंझट दूर हो सकती है। आज एक बैलजोड़ी से बीस एकड़ जमीन की काश्त हो सकती है। परंतु बहुत-से किसानों के पास तो केवल चार-पांच एकड़ जमीन ही है। इसलिए उनके पास तो एक बैल के लिए भी पूरा काम नहीं होता। अगर वे आधा बैल रख सकते होते तो उनका काम तो उतने से ही चल जाता। और जिनके पास केवल ढाई एकड़ जमीन होगी, उनकी मुसीबत तो कायम ही रहेगी। परंतु यदि गांव की सारी जमीनें एक कर ली जायं तो ये सारी कठिनाइयां दूर हो जायंगी।

इसलिए गो-सेवा के संबंध में ट्रैक्टरों के भय से नहीं, भारतीय समाजवाद की दृष्टि से विचार होना चाहिए। अगर यह लगता है कि जिस समाजवाद ने गाय को कुटुम्ब में स्थान दिया, उसने पाप किया, तो बैलों को छोड़कर ट्रैक्टर ही लाना चाहिए और गाय दूध देना बन्द कर दे तो उसे खा जाना चाहिए। गो की वृद्धि के लिए जितने सांडों की जरूरत हो उतनों को छोड़कर शेष सब बछड़ों को भी मार डालना चाहिए। अगर रूढ़ि के कारण कोई गाय न खाता हो, तो वह भ्रम समझा जाय। और यदि इस अनादि काल से चली आई रूढ़ि को हिन्दू लोग न छोड़ सकें तो गाय दूसरों के हवाले कर दी जाय। वे उसे खा जायंगे। पाप उनको लगेगा और पुण्य-पुण्य हिंदुओं के पास ही रह जायगा। यही आज हो भी रहा है। हम स्वयं अपनी गायें कसाइयों को बेचते हैं। वे यदि गायों को काटते हों तो हमारी हिंदू-बुद्धि कहती है कि उस पाप का स्पर्श हमें नहीं होता। मैंने एक आदमी से

पूछा कि तुमने अपनी गाय कसाई को बेचकर क्या पाप नहीं किया ? वह कहने लगा, "पाप कैसा ?" मैंने कहा, "तूने जिस गाय को बेचा है, उसे यदि वह कतल करेगा तो उसका पाप तुझे नहीं लगेगा ?" वह बोला, "मैंने गाय मुफ्त में थोड़े ही दी है। मुफ्त में देता तो जरूर पाप लगता। मैंने तो उसे बेचा है। बेची हुई वस्तु का क्या होता है, यह देखने की जिम्मेदारी बेचनेवाले पर नहीं होती।" इस तर्क के कारण चित्त पर आघात भी नहीं होता।

खेतों की चकबन्दी न करने का कारण क्या है, इसपर जरा विचार करें। उसमें केवल लाचारी है या वह अनुचित है ? यदि असली कारण लाचारी है, तब तो वह थोड़े दिनों की ही है। उस परिस्थिति के बदलते ही सारी जमीनें एक हुए बिना नहीं रहेंगी। यदि एक करना उचित न हो तो उसका कारण बताया जाना चाहिए। परंतु कारण कोई बता नहीं सकता, क्योंकि कोई कारण है ही नहीं। इसलिए हमें मान लेना चाहिए कि जमीनें एक होने ही वाली हैं। कम-से-कम मुझ जैसे लोग तो कहते ही रहेंगे कि जमीनों को एक करो। मैं तो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ग्रामीण समाजवाद का माननेवाला हूं और उस दिशा में प्रयत्न भी कर रहा हूं। पवनार के बुनकर अलग-अलग बुनते और अलग-अलग मजदूरी पाते थे। मैंने उनसे कहा कि सब एकसाथ बुनिये और मजदूरी भी समान रूप से बांट लीजिये। अब वे ऐसा ही करते हैं। खेती में भी मुझे यही करना है।

इस भारतीय समाजवाद का नये सिरे से विचार करना है तो कीजिये। यदि ऐसा किया तो सब जानवरों को समान मानकर गाय को भी खाने की तैयारी करनी चाहिए। परंतु यदि उपयुक्त समाज-व्यवस्था को मानना हो तो मानना होगा कि गाय को भी कुटुम्ब में शामिल किया गया है और तब यह समझ लेना होगा कि हमने एक निराले ही प्रकार की समाज-रचना करने की जिम्मेदारी अपने पर ली है। बैलों को खाने का निश्चय करेंगे तभी पश्चिम के समान अपने समाज की रचना आप कर सकेंगे। अगर बैलों को खाना नहीं है तो निश्चित है कि बैलों से ही खेती करवानी होगी

और सारे समाज की रच ना उसीके आधार पर होगी। अब कौन-सी समाज-रचना को अपनाना है, इसका विचार कर लीजिये। मैं मानता हूं कि यह बात आसान नहीं है। मैंने तो सिर्फ इतनी-सी बात आपके सामने रखी है कि हमें गो-सेवा के प्रश्न पर किस दृष्टि से विचार करना चाहिए। यह सामान्य दया का प्रश्न नहीं, एक व्यापक प्रश्न है।

गाय के दूध देना बन्द करने पर भी बुढ़ापे में उसका पालन करने की जिम्मेदारी जो अपने सिर पर ले लेते हैं, वे एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी अपने पर लेते हैं। यह एक विशाल आदर्शवाद है, किन्तु वास्तविकता से दूर नहीं है। फिर भी है आदर्शवाद ही। इस आदर्श को चलाना है तो आज के जैसी ढिलाई से काम नहीं चल सकता। हमें केवल गाय के दूध के सेवन का निश्चय करना होगा। मैं तो कहूंगा कि खादी को छोड़कर मिल का कपड़ा पहनना उतना बुरा नहीं, जितना गाय की दूध की उपेक्षा करना बुरा है। हां, हम पशु-मात्र का दूध छोड़ रहे हों, तो बात दूसरी है। वह आगे की बात है। उसके लिए यह समय उपयुक्त नहीं है। आज तो हमें दूध पीना ही है और अगर दूध पीना ही है तो वह हमें ऐसे प्राणी का पीना चाहिए, जिसका हम पूरा उपयोग और रक्षण कर सकें।

समाज-सेवकों से एक बात और कहनी है। यदि किसी काम में हमें प्रगति करनी है अथवा नई शोध करनी है तो वह काम हमें खुद करना चाहिए। गो-सेवा का काम यदि हमें करना है तो उसका दूध निकालना, मल-मूत्र साफ करना, उसे खिलाना इत्यादि सब हमें स्वयं करना चाहिए। जबतक कोई काम हम स्वयं नहीं करते तबतक हमें उसके विषय में नई-नई बातें नहीं सूझ सकतीं। यह मैं अपने खादी काम के अनुभव के आधार पर कह रहा हूं। जब मैं खादी का काम खुद करता हूं तभी मुझे उसमें सुधार सूझता है। यही बात गो-सेवा की भी है।

परंतु जब शरीर-श्रम का यह काम करने के लिए मैं आपसे कहता हूं तो इसमें मुझे एक और भी लालच है। वह यह कि भारत में क्रान्ति हो।

देश में क्रान्ति तभी होगी जब देश के पढ़े-लिखे शहरी लोग गांव के लोगों के साथ एकरूप होंगे। कहते हैं कि जर्मनी के सेनापति रोमेल से मिलने के लिए एक पत्रकार आया। बहुत तलाश करने पर भी वह नहीं मिला और मिला आखिर एक टैंक की मरम्मत करते हुए। भारत में क्रान्ति तभी होगी जब भारत के नेता गाय दुहते हुए, हल चलाते हुए या बढ़ईगिरी करते हुए पाये जायंगे। कृष्ण की स्तुति आज पांच हजार वर्षों के बाद भी लोग करते हैं। कृष्ण की क्या विशेषता थी ? यही कि पूर्ण ज्ञानी होने पर भी वह गोपालों के साथ गोपाल बनकर काम करता था। जबतक हमारे पढ़े-लिखे लोग अपढ़ लोगों से अलग रहेंगे, तबतक हम देश में क्रान्ति की आशा नहीं कर सकते। अंगरेजों ने सबसे अधिक भारत की हानि यही की कि पढ़े-लिखे लोगों को अपढ़ लोगों से अलग कर दिया। अंगरेजी की शिक्षा के कारण इन दो वर्गों के बीच मानों एक दीवार खड़ी हो गई है। इसीलिए मैं युवकों से कहता हूं कि यदि आप क्रान्ति करना चाहते हैं तो आपको स्वयं मजदूर बन जाना चाहिए।

एक बात और है—'पूर्णमदः पूर्णमिदं' अर्थात् वह भी पूर्ण है और यह भी पूर्ण है—यह है आदर्श रचना का सूत्र। जो काम करना हो उसे पूर्ण दृष्टि से कीजिये। खादी पहननेवाले गाय के दूध की परवा नहीं करते और गो-सेवक खादी नहीं पहनते तथा अन्य ग्रामोद्योगों की चीजों को तो दोनों नहीं बरतते। यदि पूछा जाय कि ऐसा क्यों होता है, तो कहते हैं कि वे महंगे पड़ते हैं। गाय के दूधवाले को ग्रामोद्योग की खली महंगी पड़ती है और ग्रामोद्योगवाले को गाय का दूध महंगा पड़ता है तथा खादी दोनों को महंगी पड़ती है। मतलब यह कि हम एक-दूसरे के मित्र एक-दूसरे को महंगे पड़ते हैं। इसलिए शायद अंगरेजी में 'डीयर फ्रेंड' कहते होंगे परंतु जिन्हें मित्र महंगे पड़ते हैं, उनके लिए दुश्मन सस्ते हो जाते हैं। इस प्रकार काम नहीं चल सकता। यद्यपि एक आदमी सब काम नहीं कर सकता, हरेक अपने-अपने हिस्से का ही काम करेगा, फिर भी समाज-सेवकों को जहां भी एक दूसरे के उद्योगों से काम पड़ता है उन्हें आपस में सहयोगपूर्वक ही रहना

चाहिए। वे काम तो अपने क्षेत्र का ही करें, परंतु वृत्ति समग्र रक्खें। ऐसा करेंगे तभी सब क्षेत्र जिंदा रहेंगे, नहीं तो अलग-अलग रहकर ग्रामोद्योग, खादी या गो-सेवा एक भी काम जिंदा नहीं रह सकेगा। मनुष्य जिंदा कैसे रहता है ? जब मन और प्राण एक दूसरे का साथ देते हैं। यही बात हमारे हर काम को लागू होती है।

: १० :

पैसा नहीं, पैदावार

कहा जाता है कि भारत कृषि-प्रधान देश है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि भारत में जमीन बहुत है। हां, उसका अर्थ यह हो सकता है कि भारत के गांवों की और लोगों के मनों की रचना खेती के अनुकूल है। एक अर्थ यह भी हो सकता है कि आज भारत के पास सिवा खेती के और कोई धंधा ही नहीं रह गया है। परंतु इस कृषि-प्रधान देश में खेती की जमीन प्रति व्यक्ति केवल पौन एकड़ ही है।

जिसके पास जमीन की कमी है, उसे एक और अर्थ में भी खेती-प्रधान कहा जा सकता है। वह यह कि उसे खेती की तरफ विशेष ध्यान देना चाहिए। खेती शास्त्रीय पद्धति से करनी चाहिए। उसमें उसे अपनी सारी बुद्धि लगानी चाहिए। नहीं तो जीवन ठीक नहीं बीतेगा। इस अर्थ में आज भारत कृषि-प्रधान हो गया है।

वैसे हर देश कृषि-प्रधान ही होना चाहिए, यानी दूसरे धंधों की अपेक्षा खेती की तरफ उसे विशेष ध्यान देना चाहिए, क्योंकि खेती से मनुष्य को अन्न मिलता है और यही मनुष्य की मुख्य आवश्यकता है।

उपनिषद् जीवन की ओर गहराई से देखने के लिए प्रसिद्ध हैं। उनकी तो आज्ञा है कि अन्न खूब पैदा करना चाहिए। मनुष्य को इसे व्रत समझना चाहिए। **'अन्नं बहु कुर्वीत, तत् व्रतम्।'** युद्ध के दिनों में सरकार ने यही भाषा शुरू कर दी थी। परन्तु अन्न तो वह बहुत नहीं पैदा कर सकी। उसके बदले उसने पैसा ही बहुत निकाला। इस कारण तीस लाख मनुष्य अन्न के अभाव में मर गये।

आखिर अंगरेजों ने यह दिवालिया दुकान हमारे हवाले कर दी। आज

सारे प्रान्तों में लोकप्रिय सरकारें काम कर रही है। ये सारी दुकानें दिवालिया हैं, यह जानकर ही हमने उन्हें स्वीकार किया है। इसलिए बाद में और कुछ भी करें, पहले तो सबसे बड़ी जिम्मेदारी यह आ पड़ी है कि लोगों को भूखों मरने से कैसे बचाया जाय ?

आंकड़ा-विशेषज्ञ कहते हैं कि आज भारत में खेती पुसाती नहीं है। जहां खेती नहीं पुसाती वहां जीवन भी नहीं पुसाता, यही कहना होगा ? इस स्थिति का कारण प्रकृति नहीं, हमारा कृत्रिम जीवन है। और पैसा इस कृत्रिम जीवन का चिह्न है। पैसे की प्रतिष्ठा जीवन के लिए मारक बन गई है।

भारत की जनता गांवों में रहती है। गांवों से पैसे की प्रतिष्ठा अगर हट जाय तो भारत की खेती सुधरे बगैर न रहेगी। पैसे के लिए तम्बाकू बोई जाय, जरूरत से अधिक कपास बोई जाय, पैसे की इतनी जरूरत क्यों हो ? इसलिए कि जरूरत की शेष सारी चीजें हमें कीमत देकर खरीदनी पड़ती हैं। कपड़ा खरीदना पड़ता है, और खली खरीदनी पड़ती है, इसलिए पैसा चाहिए। और इसीलिए ऊटपटांग चीजें बोई जाती हैं, इसलिए अनाज की कमी होती है। गांवों में उद्योग-धंधे नहीं हैं। इसलिए वहां पर्याप्त अनाज पैदा नहीं हो पाता। यह हुआ इसका अर्थ। निःसंदेह खेती में बहुत सुधार का मौका है। वह यदि सुधर जाय तो स्पष्ट ही उत्पादन बढ़ेगा। परंतु यह काम बड़ी मेहनत का है। सुधार करना तो चाहिए, किंतु उसमें वर्षों लग सकते हैं। और फिर भी पूरा नहीं पड़ेगा, क्योंकि जनसंख्या बढ़ती ही जाती है। इसलिए किसान का अर्थ खेती करनेवाला नहीं, खेती के अलावा खेती से उत्पन्न कच्चे माल से अपनी जरूरत का पक्का माल बना लेनेवाला करना होगा। खादी-ग्रामोद्योग-आंदोलन का यही उद्देश्य है। खादी और ग्रामोद्योग के बगैर गरीब लोगों की दुर्दशा दूर नहीं होगी।

आज सरकार इस चक्कर में है कि भारत में अनाज कितना कम पड़ता है और उसकी पूर्ति कैसे की जाय ? परन्तु इस प्रकार केवल गणित से हिसाब लगाने से काम नहीं चलेगा। अनाज तो अगणित पैदा होना चाहिए।

चालू वर्ष की जरूरत को पूरा करके अगले वर्ष के लिए भी कुछ बच जाय, इतना अनाज हर साल पैदा होना चाहिए। हवा अतिरिक्त और पानी अतिरिक्त वैसे ही अनाज भी अतिरिक्त होना चाहिए। परन्तु यह खेती के सुधार पर निर्भर है। अनाज के अलावा अन्य खाद्य पदार्थ भी काफी पैदा होने चाहिए। उसके लिए जमीन की अपेक्षा पानी की जरूरत अधिक होती है। जमीन के अन्दर पानी पर्याप्त है। परन्तु उसे ऊपर लाने की जरूरत है। उससे सब्जियां, फल, कन्द वगैरा पैदा किये जा सकते हैं। परन्तु इसमें भी पैसे को नहीं आना चाहिए। नहीं तो लोग यही चिन्ता करने लग जायंगे कि इन्हें बेचेंगे कहां ? ये सारी चीजें ग्रामीणों को स्वयं खानी चाहिए। बचा हुआ बेचें। मुख्य ग्राहक हम ही हैं। यह है स्वराज की दृष्टि। संत तुकाराम ने कहा है कि जो अपने परिश्रम का फल खुद खाता है, वह वंदनीय है। अपने बच्चे को ही हम बाजार में बेचने के लिए खड़ा कर दें तो उसका क्या मूल्य आयेगा ? और वह क्या हमें बरदाश्त होगा ? गांवों में दूध और घी होता है, परन्तु उसे खाना गांव के लोगों को नहीं पुसाता। फल, सब्जियां वगैरा भी यदि यहां पैदा होने लगें तो उन्हें खाना नहीं पुसायेगा। क्यों ? इसके लिए मेरा उत्तर तो यही होगा—"क्योंकि ग्रामोद्योग नहीं हैं।" मेरी बुद्धि पर एक ही विचार सवार है, इसलिए शायद मुझे यह लग रहा है। परन्तु जबतक दूसरा उत्तर नहीं सूझता इसीको पकड़े रहना होगा।

एक पाठक लिखते हैं—

'पैसा नहीं, पैदावार' लेख मननपूर्वक पढ़ा। उसमें परिस्थिति का जो विश्लेषण और निदान किया गया है, वह जंचने योग्य है। परन्तु गांवों के प्रश्न को उसमें जितना आसान बताया गया है, वास्तव में उतना आसान नहीं है। यह सच है कि अन्न, वस्त्र और घर के बारे में गांव अधिकांश में स्वावलम्बी हो सकेंगे, परन्तु मनुष्य की जरूरतें केवल इतनी ही तो नहीं हैं। पच्चीस वर्ष पहले चाय गांवों की जरूरत नहीं मानी जाती थी, परन्तु आज वह नित्य की आवश्यक चीज जैसी बन गई है। अभी तक ग्रामीण जनता के रोगों के उपचार की किसीने चिंता नहीं की, परन्तु अब

तो हमारी सरकार को उसका ध्यान रखना पड़ेगा। फिर तो दवाएं भी गांवों में बाहर से भेजनी पड़ेंगी। कोई चाहे या न भी चाहे, आज की हालत में आवागमन के साधन बढ़ जाने पर जो जरूरतें केवल शहरों तक ही सीमित मानी जाती थीं, वे अब गांवों में भी आवश्यक बन जायंगी। गांव-गांव में शालाएं खोलनी होंगी और शालाएं खुलने पर उनके अंग के रूप में कुछ नई जरूरतें पैदा होंगी। गांवों को शहरों से अलग मानकर गांवों को थोड़े में समझा देने की योजना कागज पर भले ही जम जाय, परन्तु व्यवहार में अधूरी ही साबित होगी। इसलिए ऐसा लगता है कि गांव के लोग भी पैसे के बगैर काम नहीं चला सकेंगे।"

यह एक लम्बे पत्र का सारांश है। इसमें मेरे लेख की मूल बात का ठीक से आकलन नहीं हुआ है। इसलिए उसका अधिक विश्लेषण करना होगा।

१. जरूरतें तो बहुत-सी होती हैं, परन्तु उनमें तर-तम का विवेक करना होगा। कुल मिलाकर सारी जरूरतों को सात वर्गों में बांट सकते हैं—

(१) अन्न, (२) वस्त्र, (३) घर, (४) औजार, (५) ज्ञान के साधन, (६) मनोरंजन और (७) व्यसन। सारे देश का विचार करते हुए मैं इन सातों को मान लेता हूं, परंतु विवेक को छोड़कर सारी जरूरतों की पूर्ति समान रूप से करने की जिम्मेवारी मुझे सहन नहीं होगी। अन्न के बदले में व्यसन-पूर्ति और औजारों के स्थान पर मैं खिलौनों को नहीं रख सकता।

२. खेलों के भी अनेक प्रकार होते हैं। जेल में राजनैतिक कैदियों को वालीबाल खेलने की सुविधा कर दी गई थी, अर्थात् एक साधारण खेल के लिए रबर जरूरी हो जायगा, जो भारत में पैदा नहीं होता। खोखो, कबड्डी इत्यादि खेलों में शरीर का तो व्यायाम हो ही जाता है और आनन्द भी आता है। साथ-साथ बुद्धि का भी थोड़ा व्यायाम हो जाता है। यही बात व्यसनों को भी लागू होती है। सदोष व्यसनों को हटाकर उनके स्थान पर निर्दोष

व्यसन आने चाहिए और उनकी पूर्ति भी जगह-की-जगह पर होनी चाहिए। गाफिल रहने के कारण पच्चीस वर्ष में चाय घर कर सकती है, किन्तु सावधानी रखने पर वह उसी तरह जा भी सकती है। इसके लिए वैसा शिक्षण देना होगा। शिक्षण देने की हिम्मत तो करें नहीं और चाय को स्थायी मान लें, यह मानसिक आलस्य का लक्षण है। अगर वह टिका रहनेवाला हो तो जाहिर है कि उसकी बाहर से व्यवस्था करनी होगी।

३. मेरी क़ल्पना में ग्राम-जीवन और शहरी जीवन अलग-अलग नहीं हैं, परन्तु मैं मानता हूं कि गांव की अपनी मुख्य जरूरतें सारी-की-सारी और दूसरे नम्बर की जरूरतों में से भी अधिकांश स्वयं पूरी करनी चाहिए। बची-खुची दूसरी-तीसरी श्रेणी की जरूरत की चीजें बाहर से भी आयें तो कोई हर्ज नहीं।

४. गांवों में जो कच्चा माल होता है, उसका पक्का माल, जहांतक संभव हो, गांवों में ही तैयार होना चाहिए। गांवों में कपास होती है तो कपड़ा भी वहीं बनना चाहिए। अम्बाड़ी होती है तो रस्सी वहीं बननी चाहिए। चमड़ा होता है, तो जूते और चड़स वहीं बनने चाहिए। अपनी जरूरत की पूर्ति के बाद जो बचेगा, वह शहरों में बेच दिया जाय और उस पैसे से जरूरत की अन्य चीजें खरीदी जायं। पैसे के लिए ऐसी फसलें नहीं बोनी चाहिए, जो पोषण के लिए अनावश्यक हों।

५. गांवों के मजदूरों को फसल की चीज़ों के रूप में ही मजदूरी दी जाय। मजदूरों के घरों में भी विपुल धान्य हो। पिछले पच्चीस वर्षों में चीज़ों की कीमतें पांचगुनी बढ़ गई हैं। फिर भी हमारे हाली को पहले की ही भांति छः कुडव (डेढ़ मन) महीने के हिसाब से अनाज दिया जा रहा है। इससे हाली सुरक्षित-से हैं। ऊपर उन्हें जहां बीस रुपये दिये जाते थे, सो साठ रुपये तक पहुंच गये हैं, परन्तु अनाज तो उतना ही मिल रहा है। यह अनाज मजदूरों के लिए बीमे के समान है।

६. पैसा लफंगा है। जो आज एक बात कहता है और कल दूसरी, उसे लफंगा कहते हैं। रुपये की कीमत दो पायली से लेकर बीस पायली तक

चढ़ते-उतरते इन पन्द्रह-बीस वर्षों में मैंने देखी है। इसलिए मैं उसे लफंगा समझता हूं। ज्वार से मिलनेवाला पोषण जबतक न्यूनाधिक नहीं हो जाता तबतक उसकी कीमत में कोई फर्क नहीं हो सकता। इसलिए मैं उसे प्रामाणिक कहता हूं। पैसा लफंगा है। उसके हाथों में अपना जीवन देने के मानी हैं सारे जीवन को कलुषित करना। पर आज यही हाल हो गया है। इसलिए गांव में, आपसी व्यवहार में, पैसे का कम-से-कम उपयोग होना चाहिए।

७. सरकार जमीन का लगान अनाज या सूत की गुंडियों में ले। गांवों में भी अनाज या सूत की गुण्डियों का सिक्का चले। मजदूरी में अनाज देने के बाद सूत की गुण्डियों को सिक्के के रूप में मैं अधिक पसन्द करूंगा।

८. गांवों में स्वास्थ्य आदर्श हो। स्वास्थ्य-विषयक ज्ञान सबको हो। मनुष्य के मैले का ठीक से उपयोग हो। रोग-उपचार की अपेक्षा रोग-निवारण का ध्यान अधिक रहे। सर्वत्र प्राकृतिक उपचार से काम लिया जाय। गांव-गांव में स्वयं चिकित्सागृह खुल जायं। यदि औषधियों का उपयोग करना आवश्यक हो तो आस-पास की वनस्पतियों का उपयोग किया जाय।

९. खेती में सामुदायिकता और सहकारिता का उपयोग किया जाय, परन्तु सहकारिता के नाम पर खेती में यंत्रों को न घुसाया जाय। इस देश में बैल ही कृषि-देवता रहेगा। इसलिए खेती में ऐसे किसी भी यंत्र का प्रवेश न हो, जो बैल को बेकार करनेवाला हो।

१०. गोरक्षा उत्तम प्रकार से हो। गांवों में बच्चों को दूध पूरा दिया जाय। छाछ सबको मिले। इससे गांव के स्वास्थ्य की रक्षा होगी। शहरों को भी दूध-घी देने की शक्ति गांवों में होनी चाहिए। किसान को बैल बाहर से नहीं खरीदना चाहिए।

११. ऐसा एक भी खेत न हो जिसमें कुआं न हो। किसान को जी-भर सब्जी और फल खाने चाहिए। बचे हुए ही बेचें। बेचना उनका मुख्य लक्ष्य न हो।

१२. शिक्षण के नाम पर रबर, रंगीन पेंसिलें इत्यादि चोचले शुरू करके गांवों को लूटा न जाय। शिक्षा के सारे उपकरण, जहांतक संभव हो, गांव के ही हों, और वे भी विद्यार्थियों के ही बनाये हुए। इससे उनकी बुद्धि का विकास होगा और जीवन में रस आयगा। शिक्षा उद्योगमूलक, उद्योगायतन और उद्योगगामी हो। ज्ञान और कर्म के अभेद का अनुभव किया जाय।

१३. गांवों के न्याय-दान और सुरक्षा में किसी बाहर के आदमी का हाथ न हो। विशेष प्रसंग पर यदि सरकार से मदद मांगी जाय तो उसके मिलने की सुविधा रहे। परन्तु उसे अपवाद-रूप ही समझा जाय। नगर-वासी अपनेको ग्रामीणों के सेवक समझें। नागरिक शिक्षण और नागरिकता ग्राम-निष्ठ होनी चाहिए।

इस सबको मैं धन्य-धारणा कहता हूं। इसके विपरीत धन-धारणा है, जो पूंजीपतियों ने सारे संसार में फैला रक्खी है।

: ११ :

ग्राम-सेवा का स्वरूप

प्रश्न : वस्त्र-स्वावलम्बन का प्रचार गांवों में किस प्रकार किया जाय? इसके साधन क्या हों? लोग फुरसत के समय कातें या कातने की आदत ही बना लें?

उत्तर : खेत से अच्छी कपास चुन लें। उसकी तुनाई, कताई और दुबटा करके गांव में ही बुनकर से बुनवा लें, या खुद बुन लें। दुबटाकर लेने के बाद बुनने में कठिनाई नहीं होती है। साधन सभी सुलभ हों और यदि संभव हो तो वहीं के बने हुए हों। फुरसत के समय में खूब कातें और आदत भी डालें।

प्रश्न : जो किसान खाते-पीते और सुखी हैं, उन्हें चरखा महत्वपूर्ण नहीं लगता। उन्हें कताई की ओर किस तरह प्रवृत्त किया जाय?

उत्तर : जो लोग खा-पीकर सुखी हैं, उन्हें यदि यह समझाया जा सके कि उन्हें दूसरों की चिन्ता करनी चाहिए, तो वे कातने लग जायंगे।

प्रश्न : जिनके पास बागवानी की जमीन है, उन्हें कातने का अवकाश नहीं मिलता, वे क्या करें?

उत्तर : वे कताई के लिए एक मजदूर रक्खें और उसे पूरी मजदूरी दें। फिर वह सूत बुनवा लें और मजदूर-सहित घर के सब लोग पूरी खादी पहनें।

प्रश्न : गांवों में रास्ते पर गन्दा पानी बहता या फैलता रहता है, उसका क्या करें?

उत्तर : रास्ते ठीक करें, नालियां बनावें, सोख-गढ़ा तैयार करें।[१]

---

१ श्री बालूभाई मेहता ने गांव-सफाई पर एक किताब लिखी है। इस विषय की अधिक जानकारी उसमें पढ़ें।

प्रश्न : हरिजनों की सेवा करने का यत्न करने पर भी यदि वे सेवा लेना न चाहें तब क्या किया जाय ?

उत्तर : यदि किसीको सेवा की जरूरत न हो तो वह उसपर लादी न जाय। जिसे जिस सेवा की जरूरत हो, वही दी जाय। हरिजनों की सच्ची सेवा तो स्वयं हरिजन बनने पर हो सकती है। यह हमारे हाथ की बात है।

प्रश्न : शराब के व्यसनी यदि शराब छोड़ते हैं तो बीमार हो जाते हैं। तब क्या किया जाय ?

उत्तर : प्राकृतिक उपचार से उन्हें अच्छा करें। इस प्रकार अच्छा हो जाने पर एक तो फिर से शराब पीने की इच्छा ही नहीं होगी और यदि हो तो समझना चाहिए कि असली रोग यह इच्छा ही है।

प्रश्न : चोरी से शराब बनानेवालों को वैसा न करने के लिए समझाने पर भी यदि न मानें तब क्या इसकी शिकायत पुलिस से करनी चाहिए ?

उत्तर : सेवक को अपना काम करना चाहिए और पुलिस को अपना। सेवक को सत्याग्रह की शक्ति मालूम होनी चाहिए।

प्रश्न : गांवों के होटलवालों और बीड़ीवालों का संगठन बनाकर उनके लिए तम्बाकू आदि उपलब्ध करने तथा सिले हुए तैयार कपड़े बनाकर बेचनेवाले दर्जियों के लिए मिल का कपड़ा मिलने की सुविधा ग्राम-सेवक को करनी चाहिए या नहीं ?

उत्तर : यों ग्राम-सेवक के क्षेत्र में सब प्रकार की सेवाएं आ जाती हैं, परन्तु ग्राम-सेवक का काम यह नहीं है कि ग्रामवालों का भला-बुरा सब प्रकार का जीवन चलाने में मदद करे। वह अपने लिए कुछ मर्यादाएं बना ले और इन मर्यादाओं में रहते हुए जो सेवा हो सके, उतनी से सन्तोष माने। रोगियों की सेवा के बारे में जिस प्रकार हम दवा-दारू के झगड़े में न पड़कर प्राकृतिक उपचार की मर्यादा में काम करते हैं, उसी प्रकार इसमें भी करें।

प्रश्न : ग्राम-सेवक स्वयं कितने घण्टे शरीर-श्रम और कितने घण्ट सेवा करे ?

उत्तर : सेवक आठ घंटे विश्रान्ति और चार घंटे देहकृत्य करे। शेष बारह घंटों में चार घंटे उत्पादक शरीर-श्रम, चार घंटे ग्राम-सेवा और चार घंटे स्वाध्याय, प्रार्थना और आत्म-चिंतन इत्यादि।

: १२ :

सोने की खान

श्री अण्णासाहब दास्ताने ने गांव-सफाई और खासतौर पर भंगी-काम के बारे में कुछ प्रश्न पूछे थे। इस विषय में उनसे चर्चा हो चुकी है। उसका सार यहां देता हूं।

१. भंगी की जाति को आगे नहीं बढ़ने देना है। भंगी-काम का रूप अब ऐसा होना चाहिए कि उसे करने में किसीको असुविधा न हो और आज की अवस्था में भी दूसरों को उसमें हाथ बंटाना चाहिए। कोई भी मनुष्य अस्पृश्य न रहे। वैसे कोई भी काम अस्पृश्य नहीं होना चाहिए। छोटे देहात में भंगी नहीं है, यह भगवान् की दया समझिये। गांव के संगठनों को यह काम सेवा की भावना से उठा लेना चाहिए।

२. मैले पर मिट्टी डाली जानी चाहिए। उसे खुला रखना महापातक है।

३. मिट्टी के अलावा पत्तियां वगैरा भी उसपर डाल सकें तो अच्छा है। इससे बदबू बिलकुल नहीं फैलेगी, मक्खियां भी नहीं होंगी, और सोनखाद, गोबरखाद बन जायगा। वह खेती के लिए अधिक लाभदायक है। भारत की जमीन दस हजार वर्ष से जोती जा रही है। उसमें कस कायम रखने के लिए खाद का मिलना बहुत जरूरी है। गांवों के लोगों को यह दृष्टि आनी चाहिए। चीन और जापान के लोगों में यह दृष्टि है। इस कारण जमीन के छोटे-छोटे टुकड़ों में भी वे बहुत पैदा करते हैं।

४. खुले में शौच जाने की आदत छोड़ देनी चाहिए। इसके लिए सुविधानुसार पन्द्रह-बीस बैठकोंवाली झोपड़ियां खड़ी की जायं। उनमें लम्बी चरियां खोदी जायं और इसे ईंटों से बांध दिया जाय। झोपड़ी की जगह

ज़रा ऊंची रहे तो अच्छा है। झोपड़ियां ऐसी बनानी चाहिए कि वे बरसात के दिनों में भी काम दें। वही झोपड़ियां दूसरे मौसमों में भी काम में आ जायंगी।

५. झोपड़ियां बनाने का खर्च गांववाले ही उठायें। उनके लिए वह भारी नहीं होगा। पुराने अनुमान के अनुसार एक आदमी के मल से वर्ष में दो रुपये की आय होती है। आज के हिसाब से तो दस रुपये की होगी। इस प्रकार एक हजार की आबादीवाले गांव को वर्ष में दस हजार रुपये मिलेंगे। इतने बड़े गांव के लिए झोपड़ियां बांधने में मोटे अनुमान से चार हजार रुपये से अधिक खर्च नहीं लगना चाहिए। लाभ का अनुमान और भी कम करके तिहाई मान लें तो भी, निस्सन्देह, दो हजार रुपये साल से कम नहीं होगा। इसका मतलब हुआ कि झोपड़ियों की लागत दो वर्ष में वसूल हो जायगी। ये झोपड़ियां कम-से-कम दस वर्ष तो काम देंगी ही। जिनके पास बगीचे हैं, वे अपने खर्च से ऐसी झोपड़ियां गांव के लोगों के लिए बनवा दें। खाद का उपयोग वे अपने बगीचे के लिए करें और मल पर डालने के लिए मिट्टी वे दें। ऐसी खानगी व्यवस्था हो जाय तो भी फिलहाल मैं पसन्द करूंगा।

६. सरकार को हर गांव में ग्रामपंचायत बनानी चाहिए। गांव का प्रवन्ध पंचायत के हाथ में होना चाहिए। उसमें यह बात भी आ जायगी। पाखानों की झोपड़ियां बनाने के लिए सरकारी मदद की जरूरत नहीं होनी चाहिए। विशेष परिस्थिति में सरकार कर्ज दे सकती है, जिसकी अदायगी दो या तीन किस्तों में हो सकती है।

७. गांव के आस-पास झोपड़ियां बनाने के लिए जगह उपलब्ध करने में कहीं-कहीं सरकार को मदद करनी होगी। सच पूछिये तो इस प्रकार के कामों के लिए गांव के लोगों को आवश्यक स्थान दान में देना चाहिए। समझदार लोग ऐसा करेंगे भी। परन्तु जहां यह हो वहां सरकार को इसमें मदद करनी होगी।

८. इस विषय की जानकारी उपलब्ध कर देने का काम सरकार का

होगा। इसी प्रकार इस जानकारी का हर गांव में ठीक उपयोग किया जा रहा है या नहीं, इसका ध्यान भी सरकार को रखना होगा। इसके लिए जो खर्च लगेगा, वह तो लगेगा ही। इसके अलावा इस काम के लिए सरकार पर और कोई भी खर्च नहीं पड़ना चाहिए।

६. अहिंसक लोकराज का लक्षण यह है कि सरकार का उपयोग कम-से-कम किया जाय। हर बात में सरकार पर निर्भर रहें, यह स्वराज की वृत्ति नहीं है। इसलिए लोकसेवकों को गांव-सेवा की योजनाएं सरकार-निरपेक्ष बनानी चाहिए। इनमें से जो योजनाएं खर्चे की नहीं, आमदनी की हैं, उनका भार सरकार पर डालना बिलकुल शोभाजनक नहीं है। खाद का यदि सही-सही उपयोग किया जाय तो हर गांव में यह एक सोने की खान सिद्ध हो सकती है। इसकी आय से गांव के अन्य सार्वजनिक काम भी किये जा सकेंगे।

: १३ :

स्त्री-पुरुष-अभेद

इस परिषद[१] का अध्यक्ष बनने के लिए जब मुझे कहा गया तो मैं इस बात को टाल नहीं सका, क्योंकि महिलाश्रम से मेरा शुरू से संबंध है। किन्तु फिर भी टालने की इच्छा तो थी ही, क्योंकि आजकल मैं मजदूर बन गया हूं। शायद इसीलिए मेरी बोलने की शक्ति आजकल कम हो गई है। फिर भी मैं यहां आया हूं और तुम सबको देखकर मुझे आनन्द होता है।

जब मैंने यहां आना स्वीकार किया तो मैं सोचने लगा कि स्त्रियों के बारे में विशेष बात कौन-सी कही जाय। किन्तु मुझे ऐसी कोई बात याद नहीं आई। इसपर मैं सोचने लगा कि मुझे क्यों कोई बात याद नहीं आई, इसका कारण आपको ज़रा समझा दूं।

इसका कारण यह है कि स्त्री-पुरुष में भेद करने की वृत्ति मुझमें नहीं है। मैं मानता हूं कि स्त्रियों के सामाजिक, कौटुम्बिक और राजकीय अधिकार और कर्तव्य वे ही हैं, जो पुरुषों के हैं। दोनों का आर्थिक अधिकार समान है और दोनों की नैतिक योग्यता भी एक-सी है। दोनों का शिक्षण एक साथ होना चाहिए और विषय भी समान होने चाहिए। स्त्री-पुरुष का भेद बाह्य है, मूलभूत नहीं। स्त्री और पुरुष दोनों में एक ही मानव-आत्मा वास करती है। इसलिए बाह्यभेद हों तो भी उनको महत्व देने की आवश्यकता नहीं। बाह्यभेद के कारण दोनों के कार्य-क्षेत्र में कुछ फर्क होना स्वाभाविक है। लेकिन इतने से ही आज हमने दोनों में जो भेद-भाव कर रखे हैं, उन्हें ठीक नहीं कहा जा सकता।

---

[१] **महिलाश्रम, वर्धा का वार्षिक समारोह** (१९४७)

हिन्दुस्तान के मध्यकालीन इतिहास में कुछ विचारक ऐसे निकले, जिन्होंने स्त्री-पुरुष-भेद को मूलभूत समझा। परन्तु उसका आधार केवल उनकी कवित्व शक्ति थी। सांख्यों को सृष्टि का निरीक्षण करते हुए दो तत्व मिले। एक विविध रूपधारी जड़, दूसरा एकरस चेतन। एक को उन्होंने नाम दिया 'प्रकृति' और दूसरे को 'पुरुष'। दोनों के संयोग से संसार चल रहा है। प्रकृति शब्द स्त्रीलिंग है, और पुरुष पुल्लिग। इसी शाब्दिक लिंग-भेद का उपयोग कर कवियों ने कहा कि स्त्री 'प्रकृति तत्व' का प्रतिनिधित्व करती है और पुरुष 'पुरुष-तत्व' का। कुछ विचारकों ने इसे गंभीर स्वरूप दिया और माना कि स्त्री ससारासक्त होती है। उसे मोक्ष का भी अधिकार नहीं है। मोक्ष का अधिकारी केवल पुरुष ही हो सकता है। स्त्री को मोक्ष पाना है तो उसे दूसरे जन्म में पुरुष होना होगा। प्रकृति शब्द स्त्रीलिंग है और पुरुष पुल्लिग है। इसके सिवाय इन विचारकों के विचार की सिद्धि के लिए और कोई आधार नहीं था। यदि कोई आधार माना जा सकता है तो केवल उनकी विकृत बुद्धि और काव्य-शक्ति। लेकिन सांख्यों ने तो प्रकृति को 'प्रधान' भी कहा है, और प्रधान शब्द पुल्लिग है।

वस्तुतः स्त्री-पुरुष में एक ही पुरुष तत्व, जो चेतन है, समान रूप से मौजूद है और दोनों के शरीर उसी प्रकृति तत्व के बने हैं। संसारासक्ति और संसारबन्धन दोनों में समान हैं और मोक्ष का अधिकार भी दोनों का समान है। लेकिन काव्य-शक्ति कहांतक अनर्थ कर सकती है, 'प्रकृति' शब्द उसका एक उदाहरण बन गया है।

संस्कृत काव्यों में मैंने पढ़ा कि दमयन्ती के महल में वायु का भी प्रवेश नहीं था। क्यों ? इसलिए कि वायु पुल्लिग है और पर-पुरुष को दयमन्ती के महल में कैसे स्थान हो सकता है ? दयमन्ती बेचारी कबकी मरकर मुक्त हो चुकी है। किन्तु जब मैंने यह पढ़ा तो यह सोचकर व्याकुल-सा हो गया कि दयमन्ती का क्या हाल हुआ होगा। लेकिन फिर थोड़ी देर में निश्चित हो गया, क्योंकि मेरे ध्यान में आया कि वहां वायु नहीं, तो हवा तो जरूर जा सकती होगी, क्योंकि हवा तो स्त्रीलिंग है। ऐसी है शब्दों की महिमा !

स्त्री को संसारासक्त और पुरुष को मोक्ष-प्रवण और विरक्त माननेवाली विचारधारा से भिन्न एक दूसरी विचारधारा भी है, जो कहती है, "स्त्री पुरुष से श्रेष्ठ है। उसमें दया-भाव सहज ही अधिक होता है। बालकों की शिक्षा और समाज-शासन स्त्री के हाथ में दिया जाय तो अहिंसक समाज-रचना सुलभता से सिद्ध होगी।" इन सब कार्यों में स्त्रियों भाग लें, ऐसा तो मैं भी चाहता हूं। आजतक ये कार्य सामान्यतः पुरुष ही करते आये हैं, इसलिए स्त्रियों के प्रवेश से उनमें एक तरह की ताजगी आयेगी, ऐसा भी मैं मानता हूं; लेकिन जैसाकि नये विचारक मानते हैं, वैसा मैं नहीं मानता, क्योंकि दया आदि गुण किसी जाति या किसी लिंग के आश्रित नहीं हैं। बाह्य उपाधि के कारण गुणों के प्रकाशन में, उनके प्रकट होने की पद्धति में, फर्क हो सकता है। लेकिन दोनों के गुणों में फर्क है, ऐसा मानना विचार और अनुभव दोनों के ही विरुद्ध है।

लेकिन भेद माननेवाले गुणों में तो भेद मानते ही हैं, दोनों की ग्रहण-शक्ति में भी फर्क मानते हैं। कोई कहते हैं, स्त्रियों के लिए काव्य अनुकूल है, गणित प्रतिकूल। पुरुष में पराक्रमशीलता अधिक होती है। उसकी बुद्धि की ग्रहण-शक्ति और स्वभाव के अनुकूल उसके अध्ययन के विषय होने चाहिए। इसी प्रकार स्त्रियों में सौंदर्य-भावना, करुणा आदि मृदु शक्तियां अधिक होती हैं। वैसी ही उनकी ग्रहण-शक्ति और तदनुरूप उनके अध्ययन के विषय होने चाहिए। किन्तु मैं मानता हूं कि मूल-स्वभाव और उपाधि-जन्य भेद का सम्यक विश्लेषण न होने के कारण यह भ्रम पैदा हुआ है।

नई तालीम (वर्धा-शिक्षण-पद्धति) में लड़के भी रसोई करना सीखते हैं। इसपर एक भाई ने आपत्ति की। उन्हें इस बात का दुःख हुआ कि लड़कों के शिक्षण का समय बिगाड़कर क्यों हम उन्हें चूल्हे में झोंकते हैं? उनकी राय में लड़कियों को उस काम में लगाना चाहिए। मैंने उन्हें समझाया। लड़कों के द्वारा यदि रसोई बनाई जाय तो उसे पकाने से अग्नि इन्कार नहीं करता। ज्वार की रोटी लिंग-भेद नहीं जानती, स्त्री-पुरुष दोनों की भूख का समान भाव से निवारण करती है। वैसे ही भूख भी लिंग-भेद नहीं जानती। तब क्या किया

जाय ? इसमें लोग प्रतिष्ठा का भी सवाल खड़ा करते हैं। हमें समझना चाहिए कि प्रतिष्ठा न स्त्री की है, न पुरुष की। प्रतिष्ठा तो उसकी है, जो प्रतिष्ठा-योग्य है। प्रतिष्ठा का कर्म-विशेष से भी संबंध नहीं।

लड़कियों और लड़कों के साथ-साथ रहने पर भी बहुतों को आपत्ति है। वे कहते हैं कि यह प्रयोग खतरनाक साबित होगा। लेकिन साबित तो वह होगा, जो हम साबित करेंगे। वह तो हमारी शक्ति पर निर्भर है। वैसे देखा जाय तो दो व्यक्तियों के एकत्र रहने में जैसे गुण हैं, वैसे कुछ खतरे भी हैं ही। कुछ लोग मुझसे पूछते हैं, "क्या आप ब्राह्मण बालक और हरिजन बालक को एक ही छात्रालय में रखेंगे ? क्या संगति के कारण कुछ बिगाड़ न होगा ?" मैं कहता हूं, "वह डर तो मुझे भी है। ब्राह्मण और हरिजन बालक को एक साथ रखने में यह डर जरूर है कि जो दंभ अभी तक ब्राह्मणों तक सीमित था, वह हरिजनों में भी फैल जायगा। लेकिन जहां हम शिक्षण देने के लिए बैठे हैं, वहां ऐसे खतरों को तो उठाना ही चाहिए। जहां खतरा नहीं, वहां प्रयोग नहीं। जहां प्रयोग नहीं, वहां शिक्षण नहीं। मुझमें ही हिम्मत न होगी तो मैं हार मानूंगा। लेकिन सिद्धान्त को कायम रखूंगा।"

एक लड़की ने मुझसे कहा, "भगवद्गीता में तो स्त्रियों के लिए कोई शिक्षा ही नहीं दीखती। वहां स्थितप्रज्ञ है, गुणातीत है, योगी है। लेकिन स्थितप्रज्ञा, गुणातीता, योगिनी, के लक्षण बताये ही नहीं हैं।" यह शायद 'ही' और 'शी' वाली अंगरेजी कानून की भाषा चाहती थी। मैंने उससे कहा, "उसकी फिक्र मत कर। गीता खुद तो स्त्री है और उसके उदर में ये स्थितप्रज्ञ आदि पड़े हैं। हमें तो गुरुमंत्र मिला है 'तत्वमसि'। गोरा-काला, हरिजन-परिजन, हिन्दू-मुसलमान, स्त्री-पुरुष, ये सब भ्रम हैं। तू इनसे भिन्न विशुद्ध केवल आत्मा है। तू शव नहीं, शिव है। तुझे छोड़कर यह सब शव है। तू शव का विच्छेदन किसलिए कर रहा है ? भेद तो इस शव के कारण है। केवल आत्म-तत्व ही एकमात्र जिन्दा चीज है। उसे पहचान, इसे भूल जा। विचार-भेद में अभेद को देखना उत्तम बुद्धि का लक्षण है, पुरुषार्थ है। भेदों को बढ़ाना हीन बुद्धि का लक्षण है, पुरुषार्थ-हीनता है।

: १४ :

सीता तो प्रत्येक नारी बन सकती है

यह मान्यता सैकड़ों वर्षों से चली आ रही है कि स्त्रियों की रक्षा का भार पुरुषों पर हैं। परंतु जबतक यह मान्यता कायम रहेगी तबतक सही अर्थों में स्त्रियों की रक्षा होना असंभव है। पहले तो स्त्री को रक्षा की जरूरत है, ऐसा मानने की आवश्यकता ही नहीं है। फिर भी माना गया है, इसका कारण क्या है? इसलिए कि उसके पास हिंसा के पर्याप्त साधन नहीं हैं। हिंसा के क्षेत्र में तुलनात्मक दृष्टि से वह पुरुष की अपेक्षा कमजोर पड़ जाती है। इसी कारण वह पुरुष द्वारा रक्ष्य समझी गई है, अर्थात् इसमें हिंसा की प्रतिष्ठा को मान्य कर लिया गया है। परन्तु आज की परिस्थिति तो हमें साफ-साफ कह रही है—जरूरत यह है कि प्रतिष्ठा हिंसा की नहीं, अहिंसा की होनी चाहिए।

हमें यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि आत्मा के बल पर हर परिस्थिति में स्त्री अपनी रक्षा करने में समर्थ है। शरीर-बल पर अवलम्बित रहने की अपेक्षा आत्मा के बल पर जीने की कला हम सभीको सीख लेनी चाहिए। मैं तो मानता हूं कि जिसे जीवन-भर सेवा करनी है, उसे आत्मज्ञान समझ ही लेना चाहिए। आज आत्मज्ञान शब्द हमें बहुत भारी लगता है। परंतु यह वस्तु इतनी सरल और आसान है कि एक छोटे-से बच्चे को भी समझ में आनी चाहिए। गणित का विषय शायद मुश्किल मालूम हो सकता है, परंतु आत्मज्ञान तो गणित से भी आसान है। वर्ड्सवर्थ की एक प्रसिद्ध कविता है—'वी आर सेवन', अर्थात् हम सात हैं। कविता में एक लड़की अपने मरे हुए भाई की भी गिनती जिन्दों में करके कहती है कि हम सात हैं। आत्मा की अमरता का भान उसे सहज ही होता है।

इस बात को समझना कठिन नहीं है। परंतु उसके अनुसार आचरण करना कठिन मालूम होता है, क्योंकि आज हमारा सारा जीवन शरीर-प्रधान बन गया है। सौंदर्य के बारे में हो या बल के बारे में, हमारी दृष्टि शरीर-प्रधान ही रहती है। जबतक शरीर-परायणता बनी रहेगी तबतक स्त्रियों के चित्त में भी भय सदा बना ही रहेगा। जुल्म करनेवालों ने लोगों की इस शरीर-परायणता का बहुत अधिक लाभ उठाया है। भय भी इसीसे पैदा होता है।

हमारे एक शिक्षक मित्र बेंत की महिमा का वर्णन करते थे। एक लड़का रोज देर से स्कूल पहुंचता। उसे बहुत समझाया, परंतु सब व्यर्थ। अन्त में बेंत दिखाते ही बात समझ में आ गई और वह समय पर आने लगा। परंतु इसका परिणाम क्या हुआ? शिक्षक ने उसे नियमित तो बना दिया, लेकिन इसके साथ वह भीरु भी बन गया। भीरु बनने की अपेक्षा वह देर से ही आता रहता तो कहीं अच्छा होता। निर्भयता की जगह मैं किसी भी दूसरे गुण को स्वीकार करने को तैयार नहीं। चिन्तामणि खोकर कांच कौन लेगा?

जबतक मनुष्य को भय का स्पर्श नहीं होता तबतक वह पाप नहीं करता। इसलिए माता, पिता और शिक्षकों का कर्तव्य है कि बच्चों को निर्भय बनने की शिक्षा दें। वे स्वयं कभी बच्चों को न मारें और इसके साथ-साथ उनके दिल पर यह भी अंकित कर दें कि उनको कोई कितना ही मारे तो भी मार के भय से वे एक न सुनें। आइन्दा हमारे घरों और आश्रम-संस्थाओं में बच्चों को यही शिक्षा दी जानी चाहिए। ऐसा करने से हमारे दिलों में अहिंसा का विकास होगा।

रामायण में हम सीता का वर्णन पढ़ते हैं। रावण उससे ऐसी बात कहता, जिससे उसे रोष आता था। परंतु वह उससे एक शब्द भी नहीं बोलती थी। केवल एक बार बोली थी और सो भी घास का एक तिनका बीच में रखकर। इसके द्वारा उसने रावण को यह दिखाने का प्रयत्न किया कि मैं तुझे इस घास के तिनके के बराबर समझती हूं। रावण उसका कुछ भी नहीं कर

सका। हमें सीता के उदाहरण को असामान्य नहीं मानना है। यदि ऐसी बात होती तो यह उदाहरण हमारे सामने क्यों रक्खा जाता ? कांग्रेस की अध्यक्षा हर स्त्री नहीं हो सकती, परंतु सीता तो हर स्त्री हो सकती है, आत्म-बल के सहारे निर्भय रहनेवाले मनुष्य की आंखों में एक प्रकार का तेज होता है। उसका असर दूसरों पर पड़े बिना नहीं रहता। उस तेज को पशु भी पहचान लेते हैं।

वाल्मीकि और नारद की कहानी तो सब जानते हैं। वाल्मीकि ने इतने लोगों की हत्या की, परंतु नारद के समान निर्भय मनुष्य उसे तबतक नहीं मिला था। उसे तबतक जितने भी लोग मिले वे या तो डरकर भाग जाते या उसपर उलटकर हमला करते थे। हँसकर समझदारी की दो बातें कहनेवाले उसकी उम्र में सबसे पहले पुरुष उसे नारद ही मिले। परिणाम यह हुआ कि जो वाल्मीकि एक हिंसक भील था, वह एक महान् ऋषि बन गया। इस कहानी में जीवन का सिद्धान्त भरा हुआ है। अगर हम निर्भय और शांत रहें, तो हमपर शस्त्र उठानेवाले का हाथ वहीं-का-वहीं रह जायगा।

एक सज्जन ने मुझसे पूछा कि महिलाश्रम-जैसी संस्था पर यदि गुण्डे हमला कर दें तो क्या किया जाय ? इसका जवाब बिलकुल आसान है। है। अगर सभीको जंचे तो आक्रमण होते ही बिगुल फूंककर सबको एकत्र कर लिया जाय और भगवान् का भजन शुरू कर दिया जाय, परंतु इसके लिए श्रद्धा की जरूरत है।

इसके विपरीत मान लीजिये कि आश्रम की बहनों के हाथों में हम तलवार दे दें, परंतु संभव है, आक्रमण करनेवालों के पास तलवारों की अपेक्षा अधिक परिणामजनक हथियार हों, तब हमारी तलवारें निकम्मी साबित होंगीं। इस महायुद्ध में शरीर-बल की विफलता का हमें काफी दर्शन हुआ है। एक तरफ दस-दस और बीस-बीस लाख की सेनाएं आक्रमण करती दिखाई दीं, दूसरी ओर यह भी देखा कि उतनी ही बड़ी सेना हारकर शस्त्र छोड़कर शरण में चली गई है। जब प्रतिद्वंद्वी बलवान दिखाई देता है तो वे हथियार डालकर शरण में चली जातीं हैं। अन्त तक लड़ते रहने की बातें तो

बहुत-से लोग केवल मुंह से ही कहते रहते हैं।

इसलिए मैंने शुरू में कहा कि हमें आत्मशक्ति पर निर्भर रहना चाहिए। स्त्रियों में आत्मशक्ति की किसी भी प्रकार से कमी नहीं होती। परंतु उसे प्रकट करने के लिए जीवन को तदनुकूल बनाना होता है।

खाने के लिए जीना नहीं, बल्कि जीने के लिए खाना चाहिए। जिस प्रकार हम मकान का किराया देते हैं या चरखा अच्छी तरह चले, इसलिए उसे तेल देते हैं, उसी प्रकार शरीर से अच्छी तरह काम लेने के लिए उसे आवश्यक पोषक तत्व देने चाहिए। दीपावली आने पर हम चरखे में चमेली का तेल नहीं देते। उसी प्रकार केवल ऐश या विलास के लिए नहीं, नितान्त आवश्यकता का हिसाब लगाकर शरीर को खुराक देनी चाहिए। यह एक शास्त्रीय प्रयोग है, उसमें भोग-विलास के लिए स्थान नहीं है। भोग-विलास पर आधारित जीवन मौका आते ही बैठ जाता है, टिक नहीं पाता।

यदि एक आदमी दूसरे से कहे कि "तुम्हें मुसलमान बनना ही पड़ेगा, नहीं तो हम तुम्हारी जान ले लेंगे।" तब वह उससे साफ-साफ समझाकर कहे "भले आदमी, मुसलमान बनने के लिए एक खास प्रकार की श्रद्धा की जरूरत होती है। ऐसी श्रद्धा कभी जबरदस्ती से पैदा नहीं की जा सकती।" इतना कहने पर भी यदि वह निरा मूर्ख हो और कहे "मैं कुछ नहीं जानता, कलमा पढ़ो, नहीं तो मरने के लिए तैयार हो जाओ" तो उसे शांतिपूर्वक यह कहना आना चाहिए—"अरे भाई, मरना तो सभीको है। कोई आज मरेगा, कोई कल। अच्छा, मार डालना चाहता है ? तो ले मार डाल।" परंतु इसके विपरीत यदि वह उस आदमी की बात को चुपचाप मान लेगा, तो उसके तुच्छ शरीर की भले ही किसी प्रकार रक्षा हो जाय, परंतु उसकी आत्मा का अधिक-से-अधिक अपमान होगा। अपमानित होकर जिन्दा रहने की अपेक्षा मरकर मुक्त हो जाने की शक्ति यदि होगी तो एक छोटा-सा बच्चा भी निर्भयता के साथ किसी भी संकट का सामना कर सकेगा।

व्यवस्थित रहने की तालीम तो हम सबको अवश्य ले लेनी चाहिए। कहीं आग लग जाय तो उसे बुझाने के लिए हम सब हिल-मिलकर व्यवस्था-

पूर्वक कैसे काम करें, यह हम सबको सीखना चाहिए। यह शिक्षण हमें कवायद से और लाठी के खेल से मिल सकता है। परंतु इतने से हम यह न मान लें कि काम चल जायगा। शरीर और आत्मा के भेद का ज्ञान हमें होना चाहिए। यदि यह ज्ञान हमें होगा तो शरीर की चिन्ता न करते हुए हँसते-हँसते मृत्यु का सामना करने में ये खेल हमारी मदद कर सकेंगे। महिलाश्रम में देश के सभी भागों से बहनें आती हैं। वे यहांपर सुन्दर संस्कार और शिक्षण प्राप्त करती हैं। आप सब इस तरह निर्भयतापूर्वक जीने और मरने की कला सीख लेंगी तो आज की नाजुक परिस्थिति में देश की बहुत बड़ी सेवा कर सकेंगी और परम श्रेय प्राप्त करेंगी।

: १५ :

शंका-समाधान

दो बहिनें लिखती हैं :

प्रश्न १. विनोबा के महिला-शिक्षण-परिषदवाले भाषण[१] में मुख्य बात स्त्री-पुरुषों के शिक्षण में अभेद की थी। परंतु हमारा खयाल है कि कम-से-कम कुछ बातों में तो भेद करना ही पड़ेगा। स्त्रियोंको मासिक धर्म, गर्भावस्था और प्रसूति का भार उठाना पड़ता है। इससे सम्बन्ध रखनेवाली शिक्षा तो उन्हींको लेनी चाहिए। पुरुषों को इस शिक्षा की कोई जरूरत नहीं। इससे केवल उनका समय नष्ट होगा। माता जबतक बच्चे को दूध पिलाती है तबतक बच्चे के शारीरिक और मानसिक विकास का ध्यान जितना माता रख सकती है, उतना पुरुष नहीं। इसलिए इस विषय की शिक्षा भी स्त्रियों को अलग से ही मिलनी जरूरी है।

प्रश्न २. दोनों का संवर्धन एक ही प्रकार के वातावरण में हो, तो भी दोनों के शारीरिक विकास में अंतर तो पड़ेगा ही। स्त्री जन्मदात्री होती है। इस कारण उसके स्नायु, अस्थि आदि मृदु रहेंगे ही। इस मृदुता को सह्य हो और वह टिकी रहे, ऐसे ही कार्यभार उसे देने चाहिए, और कार्यों को यदि अलग मान लिया तो शिक्षा भी अलग हो जायगी।

प्रश्न ३. शिक्षा-शास्त्रियों का कहना है कि सात से चौदह वर्ष की उम्र तक दोनों को समान शिक्षा दी जाय। इसके बाद प्रत्येक की अभिरुचि और जरूरत के अनुसार शिक्षा दी जाय।

---

१ 'स्त्री-पुरुष-अभेद' शीर्षक १३वें अध्याय का लेख देखिये।

स्त्री स्त्री है, इस कारण उसकी रुचि और आवश्यकता स्वभावतः पुरुषों से भिन्न होगी। हम अपनी पाठशालाओं में भी देखते हैं कि लड़कियों को गणित आदि विषयों की अपेक्षा सीना-पिरोना, रसोई, आदि कामों में अधिक रुचि होती है। इसलिए उनके लिए भिन्न पाठ्यक्रम होना चाहिए। इस प्रकार की रुचि रखनेवाले लड़कों के लिए आवश्यक हो तो वह पाठ्यक्रम उनके लिए खुला रखा जा सकता है।

प्रश्न ४. यह प्रश्न कुछ अलग प्रकार का है। 'हर स्त्री सीता बन सकती है' इस लेख में कहा गया है कि बच्चों को सजा का डर दिखाकर सुधारने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए, उन्हें निर्भय बनाना चाहिए। परंतु बहुत बार यह सुसाध्य नहीं होता। हमारी ढाई वर्ष की एक भानजी है। वह बहुत जिद्दी और रोनी है। एक बार रोना शुरू हुआ कि घंटों रोती रहती है, कितना ही समझाएं घर में काम करना कठिन हो जाता है। ऐसे बच्चों के लिए एक स्वतंत्र नर्सरी हर घर में नहीं रखी जा सकती। इसलिए आखिर उसे डांट-डपट दिखाकर और कभी पीटकर ही चुप करना पड़ता है। तब वह डर से थरथर कांपती हुई चुप हो जाती है। यह लड़की निश्चय ही डरपोक बन जायगी। हमारे समाज में भीरु एक भी मनुष्य नहीं होना चाहिए, परंतु व्यवहार में इसे कैसे लायें?

पहले तीन प्रश्नों का एक साथ विचार करेंगे। मेरे भाषण का मुख्य विषय स्त्री-पुरुषों के शिक्षण में कोई भेद न हो, यह नहीं था, बल्कि यह था कि कुल मिलाकर स्त्री-पुरुषों में मूलतः अभेद है। सामाजिक दरजा, आर्थिक अधिकार, नागरिक अधिकार, कुटुम्ब में स्थान, नैतिक योग्यता, शिक्षण-क्षमता, मानसिक भाव, गुणोत्कर्ष—ये सारी बातें दोनों में समान होती हैं, और यह उस भाषण का मुख्य मुद्दा था। स्थूल शिक्षण में कुछ फर्क हो सकता है। उससे मूल बात में कोई फर्क नहीं होता। अलग-अलग पुरुषों में भी अलग-अलग शिक्षा की जरूरत हो सकती है। वैसी स्त्री पुरुषों में भी हो सकती है। संतान के बारे में विशेष ज्ञान स्त्रियों को चाहिए, परन्तु पुरुष को उसकी बिलकुल जरूरत नहीं है, सो बात नहीं। संतान-विष-

यक जिम्मेदारी तो दोनों की है। भले ही उसके प्रकार में कुछ अन्तर हो।

परन्तु मुख्य विचारणीय विषय तो यह है कि दोनों में जीवन का उद्देश्य एक है या भिन्न-भिन्न ? मैं कहता हूं कि एक ही है। मानव-जीवन का उद्देश्य पूर्णता प्राप्त करना है। उसके अन्तर्गत भिन्न-भिन्न कार्य मजे में किये जा सकते हैं। उन भिन्न कार्यों के लिए भी मनोविकास की एक बुनियाद की जरूरत होगी। इस प्रकार बुनियाद एक है, शिखर एक है और बीचवाली इमारत का आकार भी एक है, इतना समझ लेने के बाद फिर खिड़कियां, आले, रंग-रंगाई में जितना फर्क करना हो, सो किया जा सकता है।

आज लड़के-लड़कियों की अभिरुचियों और शालेय विषयों के चुनाव में जो फर्क दिखाई देता है, उसका कारण सामाजिक उपाधियां हैं। रसोई, सीना-पिरोना इत्यादि विषय लड़कियों को अधिक पसन्द होते हैं, ऐसा कहना गौण है। मैंने ऐसी लड़कियां देखी हैं, जिन्हें गणित अच्छा लगता है और रसोई बनाने का शौक रखनेवाला पुरुष तो मैं खुद ही हूं। मुझे गणित भी पसन्द है। ऐसा मुझे एक भी विषय नहीं दिखा, जो अच्छा न लगा हो। आज के कृत्रिम सामाजिक वातावरण को यदि हटा दें और अकारण के निष्क्रिय बौद्धिक विषयों की पढ़ाई बंद कर दी जाय, तो मेरे समान सभीको जीवन के सभी विषय अच्छे लगने लगेंगे और उनमें स्त्री-पुरुषों का भेद नहीं रहेगा।

चौथा प्रश्न मनोरंजक है। निर्भयता सब सद्गुणों का आधार है। उसे गंवाकर दूसरा कुछ भी कमाने की बात करना अभागेपन का लक्षण है। यह जंच जाने के बाद तो उस प्रश्न में केवल मनोरंजन ही रह जाता है। उसका सामाजिक उत्तर देना हो तो पूर्व-बुनियादी शिक्षण की योजना अर्थात् बाल-बाड़ी है। कौटुम्बिक उत्तर यह है कि बच्चे कुटुम्ब में आनुषंगिक वस्तु नहीं, बल्कि मुख्य वस्तु है, इतना समझकर गृहस्थ जीवन की योजना करनी चाहिए। प्रत्यक्ष प्रश्न का उत्तर यह है कि उस लड़की को जिस प्रकार दिल से रोना आता है, उसी प्रकार उसकी मामी को दिल से हँसना आना चाहिए। यह उपाय आजमाने जैसा है। हँसी के सामने रोना टिक नहीं सकता।

शर्त केवल यही है कि रोना यदि दिल से हो रहा है, तो हँसी भी दिल से हो। मेरा अपना अनुभव तो यह है कि छोटे बच्चों में जितनी समझ होती है उतनी बड़ों में नहीं होती। इसलिए ज्ञानी पुरुषों ने एक आचार-सूत्र ही बना दिया है कि "बच्चों के समान आचरण करो।" एक उड़नेवाला कौवा भी बच्चे को हँसा सकता है। एक अबोध बालक अपनी मां पर पूरा विश्वास करके उसके उदर में जन्म ग्रहण करता है, निर्भयता के साथ उसकी गोद में सोता है, और वह जिसे चन्द्र कहती उसे चन्द्र और जिसे सूर्य कहती है उसे सूर्य समझता है। ऐसे बच्चों के बारे में मां-बाप किस मुंह से शिकायत कर सकते हैं? फिर भी लिखनेवाली बहन के लिखे-अनुसार मामी के दिल में बच्ची को पीटने की ही प्रेरणा हो तो इस क्रिया का कर्मत्व भी वह अपने आप पर ले सकती है।

: १६ :

अहिंसा का सिद्धांत श्रौर व्यवहार

प्रश्न : पूर्ण अहिंसा की आपकी कल्पना क्या है ?

उत्तर : पूर्ण अहिंसा की कल्पना आज नहीं की जा सकती। आज तो हम केवल इतना ही सोच सकते हैं कि अहिंसा की दिशा में हम कहांतक और किस पद्धति से जा सकते हैं। अहिंसा की हमारी कल्पना अभी मनुष्य-समाज से आगे नहीं बढ़ी है। यों देखा जाय तो अहिंसा को केवल मनुष्य-समाज तक सीमित रखने का कोई कारण नहीं है, और इस मर्यादा में रहकर उसको भी संतोष नहीं होगा। सम्पूर्ण सृष्टि को जब वह अपने अन्दर समाविष्ट कर लेगी तभी उसे संतोष होगा। दिशा-दर्शन के रूप में हम केवल इतना कह सकते हैं कि निर्भयता, समता और दया-भाव इन गुणों के विकास से अहिंसा पूर्ण हो सकती है।

निर्भयता—हम किसीसे न डरें। डरने लायक किसीके पास न कुछ होता ही है। आत्मा अमर है और शरीर बाहरी रूप है। उसमें आत्मा लिप्त नहीं होती। हम जिसे शत्रु कहते हैं, वह भी परिशुद्ध आत्मा का ही रूप होता है। इसलिए अपने में और दूसरे में भेद करने का कोई कारण नहीं है। मां अपने बच्चे के साथ एकरूपता का अनुभव करती है। उसकी यह अनुभूति व्यापक नहीं, परन्तु दृष्टान्त के रूप में उसे बताया जा सकता है। इस एकरूपता का अनुभव हमें भी करना चाहिए। फिर डरने लायक कुछ नहीं रह जायगा। हिंसावादियों ने एक-से-एक बढ़कर संहारक शस्त्र बनाये हैं, परन्तु जब वे देखेंगे कि सामनेवाला समाज डर ही नहीं रहा है, तब इनके हाथ से शस्त्र गिर पड़ेंगे।

समता—हममें ऊंच-नीच-भाव बहुत है। श्रमिकों को हम नीचा समझते

हैं। उनसे लाभ उठाने की और उनके श्रम का उपयोग करके उनपर ही उपकार लादने की हमारी वृत्ति रहती है। हम अपने-आपको उनका आश्रय-दाता समझते हैं। यह सब गलत है। हमें श्रम-निष्ठ होना चाहिए। कोई-न-कोई उत्पादक श्रम करना चाहिए। उसके बगैर कम-से-कम मैं तो किसी-को खाना नहीं दूंगा, फिर वह न्यायाधीश हो या प्रोफेसर। शरीर-श्रम के बगैर अहिंसा सिद्ध हो ही नहीं सकती। श्रम में ही मानव की मानवता है। किसीके कन्धे पर सवार होकर आप उसकी सेवा नहीं कर सकते। अभी तक लोग यही करते रहे हैं। किंतु अब यह नहीं चलेगा। जबतक आप स्वयं मज-दूर नहीं बनेंगे तबतक मजदूरों की सेवा आप नहीं कर सकेंगे।

दया—कहीं भी अन्याय देखकर हमें क्रोध आता है और हम उसका प्रतिकार करने का विचार करने लग जाते हैं। क्रुद्ध होकर जो प्रतिकार किया जाता है, वह हिंसा ही है, भले ही हमने शस्त्रों की सहायता ली हो या न ली हो। शिक्षक को विद्यार्थी के अज्ञान पर दया आती है। अन्याय के प्रतिकार में भी इसी प्रकार की दया होनी चाहिए, क्योंकि आदमी से जब कभी भूल होती है, तो वह मोह या अज्ञान के कारण ही होती है। इसलिए द्वेष के निवारण या प्रतिकार में क्रोध की भावना नहीं आनी चाहिए, बल्कि उसमें तो दया की आवश्यकता होती है। इस प्रकार इन तीन गुणों—निर्भ-यता, समता और दया के विकास से पूर्ण अहिंसा का दर्शन हो सकता है।

प्रश्न : गांधीजी के ट्रस्टीशिप के बारे में आपकी क्या राय है ?

उत्तर : गांधीजी पुराने शब्दों का प्रयोग करते हैं, इसलिए गलतफहमी का मौका मिल जाता है। मैं इस शब्द का उनके जितना उपयोग नहीं करता, क्योंकि उनका जन्म पुराने जमाने में हुआ है, पर मैं तो इस युग में पैदा हुआ हूं।

ट्रस्टीशिप बड़ा विचित्र शब्द है। इसका प्रयोग चर्चिल, ट्रूमेन और तोजो, ये सब कर सकते हैं। यह अभागा शब्द इतना निकम्मा हो गया है कि इसमें नया अर्थ भरना लगभग असंभव हो गया है। फिर भी हमें अहिंसक विचार के अनुसार सद्भावना-सूचक पुराने शब्दों को स्वीकार करना

चाहिए। तदनुसार गांधीजी ने इस शब्द का प्रयोग अच्छे अर्थ में किया है। आज के समाज में कुछ लोगों को दूसरे के मार्गदर्शन और रक्षण की जरूरत कदम-कदम पर होती है। **'प्राप्ते तु षोड़शे वर्षे पुत्रे मित्रवदाचरेत्'** इस वाक्य के अनुसार लड़के को कम-से-कम पन्द्रह वर्ष की उम्र तक तो संरक्षण की जरूरत रहती है। इस अवधि में बच्चों के ट्रस्टी माता-पिता ही होते हैं। समाज की रचना में हम चाहें कितना ही परिवर्तन करें फिर भी बच्चों के ट्रस्टी तो माता-पिता ही रहेंगे। हां, अपने पैरों पर खड़े हो जाने के बाद उन्हें अपने माता-पिता की सलाह की जरूरत शायद न भी रहे। यद्यपि यह विचार पूर्ण मानव-समाज पर लागू नहीं किया जा सकता, फिर भी मैंने उदाहरण इसलिए लिया कि इस प्रकार की सलाह की जरूरत समाज को सदा बनी रहेगी। बचपन में बच्चों को अपने बड़ों से जिस प्रकार संरक्षण मिलता है, उसी प्रकार बड़े होने पर वे अपने बच्चों को ऐसा संरक्षण देंगे। मेरे मत से ट्रस्टीशिप का अर्थ यही है।

सारी सम्पत्ति सार्वजनिक मान ली जाय और उसकी व्यवस्था के बारे में कुछ नियम बना लिया जाय। अगर ट्रस्टी इन नियमों के अनुसार सम्पत्ति की देखभाल न करें तो उनके ट्रस्टीशिप को रद्द कर देने का अधिकार जनता को होना चाहिए। जिनके पास सम्पत्ति है, वे यदि उस संपत्ति का उपयोग सार्वजनिक काम के लिए नहीं करते हैं तो उनके पास से यह धन-दौलत छीन ली जाय। मैं मानता हूं कि ट्रस्टी की परिभाषा में यह बात गृहीत मान ली गई है, परंतु इस छीन लेने की प्रक्रिया में हिंसा का स्थान न हो। यदि किसीके पास एक हजार एकड़ जमीन है तो उसकी काश्त वह तो कर नहीं सकता। उसे इसमें दूसरे की सहायता लेनी ही पड़ेगी। मैं कहूंगा कि कोई भी मजदूर आठ घंटे से अधिक काम न करे और दो रुपये से कम मजदूरी न ले। तब मालिक को कोई बचत नहीं होगी। वह खेती करना खुद-ब-खुद छोड़ देगा और या तो अपनी जमीन लोगों को बांट देगा या सरकार को लौटा देगा। सरकार भी यह जमीन स्वीकार कर लेगी। हां, यदि जमींदार चाहेंगे कि जमीन की काश्त तो किसान करें और वे केवल सलाह देते

रहें, तो मैं वह जमीन उनके नाम पर भी रहने दे सकता हूं। उनकी व्यवस्था-शक्ति का उपयोग मैं कर लूंगा। सरकार की तरफ से उस जमीन के व्यवस्थापक के तौर पर वे काम कर सकते हैं, परंतु उनकी वृत्ति ठीक नहीं होगी तो सारी जमीन उनके पास से ले ली जायगी।

प्रश्न : परंतु कानून भी तो हिंसा ही है न ?

उत्तर : नहीं। जो कानून लोकमत को प्रकट करता है और अच्छा भी है, वह अहिंसा का चिह्न है। हां, फौज के बल पर बनाया और लादा गया कानून जरूर हिंसा का रूप माना जायगा। उदाहरण के लिए, कोई चोरी न करे, यह कानून हिंसात्मक नहीं। शराब-बन्दी की बात लीजिये। अमरीका में भी चुनाव 'वेट' (शराब) और 'ड्राई' (शराब-बन्दी) के मुद्दों पर होते हैं। इस समय वहां वेट-वालों का राज है। भारत में शराब-बन्दी के अनुकूल इतना जोरदार लोकमत है कि शराबबन्दी का कानून हिंसा नहीं गिना जायगा। परंतु कानून के द्वारा की गई शराबबन्दी अमरीका में अहिंसा की मर्यादा में नहीं मानी जायगी।

प्रश्न : परंतु जमीन पर स्वामित्व किसका होगा ?

उत्तर : यह प्रश्न ठीक नहीं, क्योंकि अन्त तक बचता कौन है ? न खेत जोतनेवाला रहता है, न मालिक। बचती है जमीन। और वही हम सबकी स्वामिनी है। हवा पर किसकी सत्ता है ? जिसके नाक हो, वह हवा ले। परंतु हवा स्वयं स्वतंत्र है। इस विषय में तो यही कहा जा सकता है कि जो जमीन की सेवा करेगा, उसकी वह मानी जाय। जमीन पर किसीकी सत्ता नहीं हो सकती। इसलिए जरूरत से अधिक जमीन रखने अथवा उसके स्वामित्व का निश्चय करने का प्रश्न ही नहीं उठता। जमीनें छीन लो, यह मैं आज नहीं कहूंगा। जमीन का उचित किन्तु कम-से-कम मुआवजा देने के लिए मैं तैयार हूं। इतने से जमींदारों को यदि सन्तोष नहीं होगा तो मैं कहूंगा कि काम करो, और वे काम करने के लिए भी तैयार नहीं होंगे तो मैं उनकी सारी जमीन सरकार में ले लूंगा और लोगों को उनकी जरूरत के अनुसार बांट दूंगा।

प्रश्न : परंतु जिन्होंने अभी तक जमीन का दुरुपयोग किया, उनके पास जमीन क्यों रहनी दी जाय ?

उत्तर : यह तो देखना होगा। इन लोगों के पूर्वजों ने चाहे कुछ भी न किया हो, परंतु इनकी बुद्धिशक्ति का उपयोग हम अवश्य कर सकते हैं। पुराने शिक्षकों को ट्रेनिंग देकर जिस प्रकार हम नई तालीम में उनका उपयोग कर सकते हैं, इसी प्रकार उन पुराने मालिकों का भी मैं उपयोग कर सकता हूं। हां, ट्रेनिंग देने पर भी यदि वे उपयोगी सिद्ध नहीं होंगे तो दूसरी बात है। परंतु उन्हें मौका तो देना ही चाहिए न ? अगर वे समय को नहीं पहचानेंगे तो सर्वस्व खो बैठेंगे।

प्रश्न : परंतु इसके विषय में लोगों में जागृति कैसे लाई जाय ?

उत्तर : यह लाई जा सकती है। जमींदारों को खत्म करने की बात कहकर यदि जागृति लाई जा सकती है तो उनका उपयोग कर लेने की अहिंसात्मक बात भी उन्हें समझाई जा सकती है। जबतक स्वयं मजदूर बनकर आदमी मजदूरों में काम नहीं करने लगेगा, तबतक मजदूरों में जागृति नहीं लाई जा सकेगी। जब हम स्वयं मजदूरी करने लगेंगे तब मजदूरी या वेतन अपने-आप बढ़ेगा ही। पढ़े-लिखे लोग भंगी का काम करने लगेंगे तो भंगियों का वेतन बढ़ेगा, लोगों को स्वच्छता-सफाई की शिक्षा मिलेगी और कानून भी बनेंगे। इससे सुधार तेजी से होगा। हम मजदूर बनेंगे तो मजदूरों में जागृति होगी। इस प्रकार पढ़े-लिखे लोग मजदूर बन जायंगे तो मजदूरों का जीवन ऊंचा उठेगा और मालिक भी अदृश्य हो जायंगे।

प्रश्न : गांधीजी कहते हैं कि जोतनेवाला जमीन का मालिक है। यह अहिंसा से कैसे होगा ?

उत्तर : इसमें शंका कैसी ? यह तो गांधीजी ने क्रान्ति की बात कह दी। लोग कहेंगे कि जमीन सारे गांव की है। सब मिलकर खायंगे। जमीन का मालिक बनकर यदि कोई सामने आयगा तो उसे भी कहेंगे कि काम कर और खा। जमींदार आज लगान का बहुत-सा हिस्सा खुद रख लेता है। यह रिश्वत है। गांववाले लगान देने से इन्कार कर देंगे तो जमींदार लाचार

होकर सरकार से कह देगा कि मुझे जमींदारी की जरूरत नहीं है। असल बात तो यह है कि राष्ट्रीय सरकार जनता की सरकार होगी। इसलिए सारी जमीन जनता की होगी और उस जमीन का बंटवारा भी सरकार अर्थात् जनता ही करेगी। उसके बारे में जो भी निर्णय करना होगा, वह सरकार अर्थात् जनता ही करेगी।

प्रश्न : तब रूस और भारत में फर्क क्या रहेगा ?

उत्तर : फर्क यह रहेगा कि हम सबसे बातचीत करेंगे। उनकी कठिनाइयां समझने की कोशिश करेंगे और उन्हें दूर करेंगे। जमीन के मालिक बनने या उसपर हक जताने का साहस हमारे यहां कोई नहीं करेगा। परंतु रूस में जिस प्रकार लोग खोपड़ियां फोड़ने के लिए तैयार हो गये, ऐसा हम यहां नहीं करेंगे। बेशक, रूस का रास्ता नजदीक का रास्ता—शार्ट कट—है, परंतु मैं तो मानता हूं कि यह शार्ट कट बड़ा लांग यानी लम्बा है। अन्त में हमारी सरकारें भी सबकी ट्रस्टी बनेंगी और जमींदारों की अन्य जिम्मेदारियां भी वे उठा लेंगी।

प्रश्न : परंतु अन्त में सत्ता का हस्तान्तरण ठीक ढंग से कैसे होगा ?

उत्तर : सत्ता के हस्तान्तरण का अर्थ यह नहीं कि किसी एक तानाशाह के हाथों में सत्ता सौंप दी जाय। सामान्य जनता में बच्चे, बूढ़े, स्त्रियां सबका समावेश होता है। उनके पास कौन-सी शक्ति है ? किसी खास वर्ग में जो बुद्धि होती है, वह सामान्य जनता में नहीं होती। इसलिए यदि हिंसा को स्थान देंगे तो एक वर्ग को सदा पराधीन ही रहना पड़ेगा। स्त्रियों को पुरुषों के अधीन और बच्चों को बड़ों के अधीन रहना होगा। हिंसा-मार्ग में बच्चों और बूढ़ों का कोई उपयोग नहीं होता। रूस में आखिर तानाशाही (डिक्टेटरशिप) ही जारी है। स्टालिन और अकबर में क्या फर्क है ? आखिर लोग यही तो कहेंगे कि स्टालिन भी एक अच्छा बादशाह है।

सच पूछिये तो स्वराज बहुत आसान है। केवल लोगों की समझ में आ जाने की बात है। नोटों का चलन और लगान देना बन्द किया कि सरकार ठप। तब लोगों पर बम जरूर बरसाये जा सकते हैं, परंतु ये कहां-कहां

कितने लोगों पर बरसायेंगे ? केवल बम्बई और पूना में रहनेवाले मुट्ठीभर लोगों पर। गांव में रहनेवाली असंख्य जनता तो सुरक्षित रहेगी। समाजवादी लोग कहते हैं कि अन्त में सरकार समाप्त ही होनेवाली है, परंतु समाप्त होने से पहले अतिशय मजबूत सत्ता की स्थापना कर लेना जरूरी है। लेकिन यह तो परस्पर-विरोधी बात है। भारत के लोग जिस समय समझ लेंगे कि सरकार समाप्त हो गई, समझ लीजिये कि सरकार उसी समय समाप्त हो गई। परंतु अभी भी यह बात उनके दिमाग में घुस नहीं रही है।

प्रश्न : लेकिन यह सब होगा कैसे ?

उत्तर : कालेज छोड़ने पर सीधे गांव में चले जाने से यह हो सकता है। आपको अपनी स्नातकोत्तर (पोस्ट-ग्रेजुएट) पढ़ाई वहीं करनी है। अंगरेज समझ गये हैं कि अब भारत एक-न-एक दिन उनके हाथ से निकल जानेवाला है; या तो स्वतन्त्र होगा या रूस उसे हजम कर जायगा। इसलिए आधी या चौथाई सत्ता देकर अंगरेज हमारे अन्दर फूट पैदा करेंगे और हमारे आदमियों के हाथों ही हमें पिटवायंगे। तब अगर मेरे जैसा कोई खड़ा होकर कहेगा कि लगान मत दो तो कांग्रेस की सरकार ही उसे जेल भेज देगी। इसलिए चार आने सत्ता लेने के बजाय सोलह आने क्रान्ति के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न : गाय के दूध की तरह बकरी के दूध की भी हिमायत आप क्यों नहीं करते ?

उत्तर : यहां का सब काम ग्रामोद्योग की दृष्टि से चल रहा है। केवल दूध के नाम पर बकरी को जिन्दा नहीं रखा जा सकता। लोगों को बकरी का दूध चल जाता है, परन्तु उसके साथ बकरे का मांस भी वे पसंद करते हैं। इसलिए हमने अभी केवल मर्यादित क्षेत्र में काम शुरू किया है। भगवान् बुद्ध ने बकरे को बचाने का प्रयत्न किया था, परंतु वह उसे नहीं बचा सके, क्योंकि बैल की तरह बकरों का दूसरा कोई उपयोग नहीं होता। उन्हें या तो जंगल में छोड़ देना पड़ेगा, या खा जाना चाहिए। भारत में बकरों का

उपयोग खाने में ही किया जाता है। तब बकरे का चमड़ा व्यर्थ क्यों जाने दिया जाय ? मैंने आपसे प्रारंभ में ही कह दिया कि आज हमारी अहिंसा केवल मनुष्य-जाति तक ही सीमित है, और मनुष्य-जाति आज आपस में ही लड़ रही है। उसकी अहिंसा का पूरा विकास होने पर वह प्राणिमात्र के बारे में विचार करेगी। संसार के अनेक देशों में आज लोग गाय का दूध पीते हैं, परन्तु बैलों को वे खा जाते हैं। गाय भी जब सूख जाती है तब उसे कत्ल कर दिया जाता है। भारत में भी इस प्रकार लाखों गायें मारी जाती हैं। इसलिए हम अभी केवल गाय को ही बचाने का प्रयत्न कर रहे हैं। बकरी को बचाने का काम आनेवाली पीढ़ियों के लिए रख छोड़ा है। सारा काम एक ही पीढ़ी में कैसे बन सकता है ? आज अगर हम गाय को बचा सके तो कल अपने-आप ही स्वयं बकरी को बचाने का विचार करने लगेंगे। उपयोग के बगैर केवल भूत-दया के नाम पर किसी प्राणी को बचाना कठिन है। आज तो पूरा उपयोग हम गाय और बैल का ही कर सकते हैं।

प्रश्न : क्या इसमें आप अहिंसा से दूर नहीं जा रहे हैं ?

उत्तर : सो कैसे ? आज भारत में गाय और बकरी दोनों ही कत्ल होती हैं। बलिदान बन्द करने से लोग बकरे का मांस खाना बन्द नहीं करेंगे। हिन्दू-धर्म ने केवल गो-भक्षण छोड़ा है। इसलिए हम गाय और बैलों को बचाने का प्रयत्न करते हैं। यह केवल प्रारंभ है। नदी के उद्‌गम की तरह यह अहिंसा का उद्‌गम-स्थान है। इसलिए यह छोटा है। यूं तो पूर्ण अहिंसक जीवन असंभव ही बना रहेगा, खाने-पीने में ही नहीं, सांस लेने में भी हिंसा होती है, इसलिए हिंदू-धर्म ने उसे युक्तिसंगत रूप देकर कहा कि इस शरीर को ही छोड़ दीजिये, अर्थात् शरीर की आसक्ति छोड़ दीजिये। यही मुक्ति है। अहिंसा के द्वारा ही समाज मुक्ति की ओर प्रगति कर सकेगा। इस दिशा में भारत से अधिक किसी देश ने प्रगति नहीं की।

प्रश्न : यहां गोपुरी में चरखे बनाने के लिए यंत्रों का भी उपयोग किया जाता है। यह क्यों ?

उत्तर : यंत्रों का हमें तिरस्कार नहीं करना है। यंत्र तीन प्रकार के

होते हैं। एक प्रकार के यंत्र मारक होते हैं। उनकी हमें जरूरत नहीं है। दूसरे पूरक हैं। उनकी मदद हम ले सकते हैं। तीसरे प्रकार के यंत्र मनुष्य-बल को खतम करनेवाले होते हैं। उनको भी हम स्वीकार नहीं कर सकते। पांचसौ वर्ष बाद हमें फिर इस प्रश्न पर विचार करना होगा, अर्थात् हर बार हमें विवेकपूर्वक काम करना चाहिए। गांव को बिजली दी जा सकती है, तो मैं अवश्य दूंगा। परन्तु उससे मनुष्य-बल और पशु-बल बेकार नहीं जाना चाहिए। हम रेलवे, छापाखाने का उपयोग करते हैं न ? बनारस से आप रेल में बैठकर आये। यह ठीक है। परंतु मैं कहूंगा, यहां सेवाग्राम या पवनार जाने के लिए मोटर की अपेक्षा अपने पांवों का उपयोग करना चाहिए। ग्रामोद्योग-संघ के लोगों से मैंने इस संबंध में चर्चा नहीं की है। परंतु अगर हम लुगदी (पल्प) तैयार करके दे सकें तो गांव में घर-घर कागज बनाया जा सकता है। यह लुगदी यंत्र से भी बनवाई जा सकती है। यदि हमारे बैलों के लिए पूरा काम है और वे बेकार नहीं हो रहे हों, तो जरूरत के अनुसार यंत्र-बल की मदद लेने में कोई हर्ज नहीं। इसका मतलब है कि हम यंत्रों से द्वेष नहीं करते। परन्तु आज की परिस्थिति में यंत्रों का कहां, कितना, कब और कैसे उपयोग किया जाय, इन सब बातों के लिए विवेक से काम लेना चाहिए।

प्रश्न : लोग हिंसा की तरफ क्यों जाते हैं ?

उत्तर : मनुष्य की वृत्ति है कि खुद परिश्रम न करे और दूसरे के परिश्रम से लाभ उठावे। फिर भी प्रकृति में प्रेम ही भरा हुआ है। सफेद कपड़े पर छोटा-सा धब्बा भी बुरा और बड़ा दीखता है। इतना बड़ा महायुद्ध पांच वर्ष चला। फिर भी अधिकांश लोग शांति का जीवन व्यतीत कर रहे थे। लड़नेवालों की संख्या उनके मुकाबले में बहुत कम थी। युद्ध मनुष्य-स्वभाव के विपरीत है। इसी कारण बार-बार उसकी ओर ध्यान जाता है। कम्युनिस्ट मुझसे कभी ऐसा प्रश्न नहीं पूछते, क्योंकि उनकी कल्पना के अनुसार अंत में राज्य भी बचनेवाला नहीं है। मनुष्य स्वभावतः अच्छा होता है और हिंसा कृत्रिम चीज है, यह हमें स्वीकार करना होगा।

प्रश्न : अन्य देशों या लोगों की तुलना में भारत में अहिंसा अपेक्षाकृत अधिक क्यों दीखती है ?

उत्तर : दूसरे लोगों के साथ भारत के लोगों की तुलना करना कठिन है। फिर भी दूसरे देशों की प्रवृत्ति हिंसा की अपेक्षा अहिंसा की ओर ही अधिक है। अगर ऐसी बात नहीं होती तो कुटुम्ब-व्यवस्था का वहां निर्माण ही नहीं होता। पशुओं में कुटुम्ब-व्यवस्था नहीं है। मांसाहार से अन्नाहार की तरफ बढ़नेवाला मनुष्य क्या अहिंसा की तरफ ही नहीं जा रहा है ? बुझने से पहले जिस प्रकार दीये की ज्योति बड़ी हो जाती है, उसी प्रकार यह एटम बम हिंसा की समाप्तिकाल का आदि-चिह्न है। इसीलिए मैं कहता हूं कि विज्ञान की खूब प्रगति कीजिये, क्योंकि विज्ञान कहता है कि या तो मुझे बढ़ाइये या हिंसा को बढ़ाइये। आप हम दोनों को एक साथ नहीं बढ़ा सकते, क्योंकि हम दोनों मिलकर आपका सम्पूर्ण नाश करनेवाले हैं। इसलिए यदि हमें विज्ञान पसन्द है तो हिंसा को छोड़ना ही पड़ेगा। हम तो प्रगति चाहते हैं, इसलिए विज्ञान को छोड़ ही नहीं सकते। तब तो हिंसा को ही छोड़ना पड़ेगा।

: १७ :

आचरण में असफलता क्यों ?

एक हजार नौ सौ छियालीस वर्ष पहले एक महात्मा कह गया, "शत्रु से प्रेम करो।" मनुष्य के हृदय में यह शब्द तीर की तरह प्रवेश कर गये। वह उसे हजम नहीं कर सका। उसने इस महात्मा के नाम पर एक शक ही शुरू कर दिया। जो दूसरे पर अपनी सत्ता नहीं चलाना चाहता और न दूसरे किसीकी सत्ता को मानता है, उससे बड़ा सत्ताधारी और कौन हो सकता है? परन्तु यह शक उस महात्मा और मनुष्य की असफलता का एक मानदण्ड ही बन गया है।

ईसा से भी पहले यही बात बुद्ध ने भारत में कही थी—"वैर से वैर का शमन नहीं होता, अवैर से ही उसका शमन हो सकता है।" हमारे लोगों ने कहा है, कि यह कोई नई बात नहीं है। वेदों में भी कहा है कि **'तितिक्षन्ते अभिशस्तिर् जनानाम्'**—अर्थात् दुर्जनों के आक्रमणों का प्रतिकार सज्जन तितिक्षा से करते हैं। बुद्ध ने कहा, "ठीक है। मेरी सिखावन यदि पुरानी ही है तो उसपर निष्ठापूर्वक अमल कीजिये और यदि नई है तो उत्साह के साथ उसके पालन में लग जाइये।" ईसा ने तो साफ-साफ कह दिया है, "मैं पुरानी बातों को तोड़ने के लिए नहीं आया हूं। मैं तो उनका जीर्णोद्धार करने के लिए आया हूं। भलाई पुरानी चीज ही है। केवल उसके जीर्णोद्धार की जरूरत है।"

"शत्रु से प्रेम करो", कैसी सुन्दर, कुशल युक्ति है। वह मुझसे द्वेष करता है और मैं उससे प्रेम करता हूं। मैंने उसके दिल में अपनी छावनी डाल रक्खी है। अब वह मुझपर आक्रमण कैसे करेगा? युद्ध उसीकी हृदय-भूमि में शुरू होता है और मेरा दिल खुला रहता है। शत्रु की भूमि पर लड़ाई

चल रही है और मैं सुरक्षित हूं। शत्रु का नाश ही होगा। ज्ञानदेव ने कहा, "यदि मित्रता से ही दुश्मन मर जाता है तो व्यर्थ कटारी क्यों बांधी जाय ?"

"शत्रु से प्रेम करो", कितना महान् शौर्य है इसमें। बलवान हृदय के बिना इतनी हिम्मत कहां से आयेगी। पर हम सोचते हैं कि जो तलवार खींचता है वही बलवान होता है। परन्तु सच तो यह है कि तलवार की सहायता का खयाल आते ही क्या तुम दुर्बल नहीं हो गये ? तुकाराम ने विनोद में कहा है, "मेरे हाथ तो ढाल-तलवार में उलझे हुए हैं, लड़ूं तो कैसे लड़ूं ?" शस्त्र लेकर मनुष्य निःशस्त्रों पर ही अपनी ताकत आजमा सकता है। पर सवा सेर के मिलते ही ढेर हो जायगा। इसमें कौन-सा शौर्य ? हमने इस महायुद्ध में देख लिया न कि जिन लाखों लोगों ने शस्त्र लेकर आक्रमण किया था, अंत में उन्हींको शस्त्र फेंककर आत्म-समर्पण करना पड़ा ? क्यों ? गणित के कारण। सामनेवाले के पास युद्ध-सामग्री अधिक देखी तो हथियार डाल दिये। प्रारंभ में शौर्य का बाना पहना और बाद में समझदारी की शरण ली। शत्रु से प्रेम करनेवाला ही अंत तक शौर्य के बाने को निबाह सकता है।

"शत्रु से प्रेम करो," यह विरोध के द्वारा विकास करने की सच्ची पद्धति है। वह मुझसे द्वेष करता है और मैं प्रेमपूर्वक उसका प्रतिवाद करता हूं। इसीमें से एकत्व के सुसंवाद का निर्माण होता है। यही वेदान्त है। कुरान में लिखा है—"तेरी जिससे अदावत अर्थात् दुश्मनी है, उसपर यह मित्रता का प्रयोग करके देख। तुझे अनुभव होगा कि वह तेरा दुश्मन नहीं, प्राणसखा है।"

"शत्रु से प्रेम करो," क्या इसका अर्थ यह है कि पाप का प्रतिकार न किया जाय ? इस प्रश्न के पूछनेवाले ने निश्चित रूप से मान लिया है कि पाप केवल उसके शत्रु में ही है और इसके पास केवल पुण्य-ही-पुण्य है। परन्तु यह ठीक नहीं। पाप जहां भी हो, वहीं उसका प्रतिकार अवश्य किया जाना चाहिए। उसका प्रारंभ खुद से और अन्त शत्रु में। रोगी से प्रेम करने के माने रोग से प्रेम करना नहीं होता। रोग-निवारण का यत्न ही रोगी से प्रेम करने का लक्षण है।

यह बात विचार में तो जंचती है और इसीलिए ईसाइयों ने ईसा के

नाम पर यह शक चलाया है। इसी कारण मुसलमानों पर कुरान की इतनी सत्ता है। इसीलिए भारत में वेदान्त की प्रतिष्ठा है। इसीलिए चीनी और जापानी अपनेको बुद्ध के अनुयायी कहते हैं। परन्तु इस उपदेश पर अमल कोई नहीं करता। यह क्यों ?

इसके कारण की पूरी खोज होनी चाहिए। इतने सारे धर्मों के माननेवाले, अहिंसा का उपदेश करनेवाले अपने-अपने धर्म-पुरुषों के प्रति पूज्य भाव रखते हैं और अपने-आपको उसका अनुयायी बताते हैं, परन्तु व्यवहार में उसपर अमल नहीं करते। तब क्या इन सबको ढोंगी कहें ? मानव-समाज के विषय में ऐसी कल्पना करना उचित नहीं होगा। इसलिए इस चमत्कार की कारण-मीमांसा होनी चाहिए।

यों कारण बहुत होंगे। परन्तु मुख्य कारण मुझे यह मालूम होता है कि लोगों का यह खयाल है कि यह उपदेश केवल व्यक्ति के लिए है, समाज पर वह लागू नहीं हो सकता। यदि आप व्यक्ति तक ठीक मानते हैं, तो कोई पूछेगा कि क्या व्यक्तिगत जीवन में भी उसपर अमल करते हैं ? इसके उत्तर में कहा जायगा कि हां, कुछ प्रयत्न अवश्य होता रहता है, किन्तु उसमें सफलता नहीं मिलती। यह मनुष्य की कमजोरी है। अपनी इस कमजोरी को वह स्वीकार कर लेगा, परन्तु सामाजिक जीवन में भी यह सिखावन व्यवहार्य है, इस बात को उसका दिल ही अभी स्वीकार नहीं करता। इसके विषय में वह अभी शंकाशील है।

सिद्धान्त एक त्रिकोण पर अवश्य सिद्ध हो गया, परन्तु यह सारे त्रिकोणों पर कैसे लागू होगा ? इस प्रकार की शंका भूमिति के विद्यार्थी के दिमाग में कभी नहीं उठती। परन्तु धर्मनिष्ठों के दिमाग में अहिंसा के बारे में ऐसी शंका खड़ी हो जाती है। जबतक यह शंका दूर नहीं हो जाती, हम सत्पुरुषों का अनुवर्तन नहीं कर सकेंगे। आदर करेंगे, उनके जन्मोत्सव मनायंगे, उनका शक चलायंगे, उनके नाम का जयजयकार करेंगे, और उनके अनुयायी कहलाते रहेंगे, परन्तु उनके अनुयायी नहीं बनेंगे। उनके नाम पर मार-पीट तक करेंगे, और उसमें हमें कोई विसंगति नहीं मालूम होगी।

: १८ :

अहिंसा का उदय

आज हम गांधी-जयन्ती के निमित्त एकत्र हुए हैं। गांधीजी ने पहले कई बार और अब भी कहा है कि इसे चरखा-जयन्ती कहना चाहिए और उसीके अनुसार उत्सव किया जाय। परंतु आज भारत में ऐसी हवा बह रही है कि विचारों की अपेक्षा मनुष्य को अधिक महत्व दिया जाता है। यह विशेषता आज की है, प्राचीन काल की नहीं। भारत के लोगों पर यह आरोप है कि उन्होंने अपना कुछ भी इतिहास लिखकर नहीं रक्खा। यह आरोप सत्य है। हमारे पूर्वजों ने भिन्न-भिन्न विषयों पर बहुत-से शास्त्रीय ग्रंथ लिखे हैं, परंतु इतिहास पर कुछ भी नहीं लिखा। हमारे श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ पुरुष कब हो गये, इसका हमें पता नहीं। उन लोगों में उत्तम-से-उत्तम ग्रंथकार हो चुके हैं, परंतु उनके ग्रंथों में उनका नाम तक नहीं है। आजकल तो प्रस्तावना में ही लेखक अपना परिचय दे देता है। पुराने लोग विचार-प्रधान थे। हम व्यक्ति-प्रधान बन गये हैं। व्यक्ति की पूजा होती रहती है, पर विचार पीछे रह जाते हैं। इसीलिए गांधीजी कहते हैं कि गांधी-जयन्ती नहीं चरखा-जयन्ती मानकर जो कुछ भी करना है, करें।

गांधीजी ने ऐसा क्यों कहा? यों चरखा दिखने में एक छोटी-सी चीज है, पर उसके पीछे विचार क्रांतिकारी है। आज संसार में जो चल रहा है, उसे बदलने की बात उसमें है। इसीको क्रांति कहते हैं। मैं चेतन हूं। युग अचेतन है। इसलिए अपने युग का निर्माण मैं करूंगा। अपने आस-पास का वातावरण मैं स्वयं निर्माण करूंगा। यह विचार चरखा हमें सिखलाता है। लोग मुझे पूछते हैं, "क्या आज की इस बीसवीं सदी में आपका चरखा चलेगा?" मैं उनसे कहता हूं, "आजतक तो चला, आज एक अक्तूबर को

चल रहा है, कल दो अक्तूबर को चलेगा और जबतक मैं चाहूंगा चलता रहेगा।" लोग मुझसे पूछते हैं, "हवाई जहाजों के इस युग में आपकी तुनाई-पुनाई कैसे चल पायगी ?" मैं कहता हूं,"बहुत अच्छी चलेगी। हवाई जहाज में बैठकर मैं शान से पुनाई करूंगा व चरखा चलाऊंगा, क्योंकि अपनी सृष्टि का मालिक मैं हूं। इसीको मनुष्यता कहते हैं। मैं ईश्वर की प्रतिमा हूं, उस मालिक का मैं पुत्र हूं। इस जड़ संसार को मैं अपना मालिक नहीं मानता। मेरे हाथों में मिट्टी है। इससे मैं सोने का निर्माण करूंगा।"

इतिहास में युग को नाम देने की प्रथा है। 'विक्टोरियन पीरियड' इत्यादि देखकर मुझे हँसी आती है। मैं कहता हूं, "यह मेरा पीरियड है, मेरा युग है।" लोग कहते हैं, "दुनिया का केन्द्र इंग्लैंड है।" मैं कहता हूं, "धाम नदी के किनारे पर बसा हुआ पवनार उसका केन्द्र है, क्योंकि मैं जब अपने टीले पर खड़ा होकर देखता हूं, तब चारों ओर की दुनिया मुझे दिखाई देती है।" कुछ लोग इस विचार-सरणी को 'यंत्र बनाम चरखा' समझते हैं। परंतु मेरे विचार से वह 'यंत्र बनाम चैतन्य' है। दैववादी और पंगु लोगों के रूढ़िवाद के यानी जड़वाद के विरुद्ध यह चैतन्यवाद है। मैं जड़वादी नहीं हूं। यंत्र जड़ वस्तु है। जिन यंत्रों की आवश्यकता मैं महसूस करूंगा, उन्हें रखूंगा। जो अनावश्यक हैं, उन्हें नहीं रखूंगा।

बेचारे यंत्र स्वयं कुछ भी नहीं कर सकते। मैं उन्हें चलाऊंगा तो वे चलेंगे। हिन्दुस्तान में ४० करोड़ लोग रहते हैं। इतना विशाल देश अपना वातावरण खुद नहीं बनायगा तो दूसरा कौन बनायगा ? मंगल के आस-पास मंगल का व बुध के आस-पास बुध का वातावरण रहता है। फिर हमारे आस-पास हमारा वातावरण क्यों न रहे ?

हम इतिहास को देखते हैं तो पता चलता है कि इतिहास की एक मांग होती है। उसे पूरी करने के लिए किसी पुरुष का जन्म होता है। उसीको हम युग-पुरुष कहते हैं। भारत के इतिहास की और आज तो सारे संसार की मांग यह है कि चरखा जिस संस्कृति का प्रतीक है, वही संस्कृति हमारी है।

अंगरेजों के अधीन जब भारत हुआ तब जो बात किसी भी देश में नहीं

हुई, वह इस विशाल देश में हो गई। क्या हुआ ? इतने बड़े राष्ट्र के हाथों से सारे हथियार छीन लिये गए। यह बात पुराने जमाने में किसीको भी नहीं सूझी थी। यही नहीं, उन्हें तो लगता था कि लोगों को इस प्रकार निःशस्त्र कर देना खतरनाक भी है। परंतु अंगरेजों को लगा कि यदि यहां राज करना है तो जनता के हथियार छीन लेने चाहिए। शस्त्रों के छिनते ही देश में एक बात की आवश्यकता उत्पन्न हो गई। भारत के लोगों ने सोचा कि या तो अनन्त काल तक गुलाम बनकर पड़े रहना है या किसी ऐसी शक्ति का आविष्कार करना चाहिए, जो निःशस्त्रीकरण का मुकाबला कर सके। भारत में यह आवश्यकता पैदा हो गई। इसलिए यहां एक ऐसा युग-पुरुष हुआ, जिसने इस देश को एक नया दर्शन दिया। दर्शन यह कि हिंसक शस्त्रों के बगैर भी अन्याय का प्रतिकार किया जा सकता है।

यह तो एक दैवयोग है कि वह पुरुष गांधी हुआ। गांधी न होता तो और कोई आता, क्योंकि वह इस युग की मांग थी। इतने सारे लोग हमेशा के लिए गुलाम रहें, यह तो असंभव था। इस समय मुझे गीता का वचन याद आ रहा है। भगवान् ने अर्जुन से कहा था कि मैं तो इन्हें कभीका मार चुका हूं। तू तो केवल निमित्त बन जा। गांधीजी भी इस प्रकार केवल निमित्त हैं। यह एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी।

इसलिए उत्तम बात तो यह है कि हम गांधी को भूल जायं। उसके विचार समझ लें। व्यक्ति की पूजा करते रहेंगे तो उसके विचारों को हम भूल जायंगे। एक सज्जन ने गांधी-जयन्ती के दिन व्याख्यान देने के लिए मुझे निमंत्रण भेजते हुए लिखा था कि वे ७८ बैलों की गाड़ी में गांधीजी के चित्र का जलूस भी निकालनेवाले हैं। इस प्रकार यदि ७८ का नियम शुरू हो जायगा तो हम विचार को भूल जायगे। ७८ के बाद ७९ और ७९ के बाद ८० आयगा। इस प्रकार शरीर का विचार ही प्रधान बन जायगा। आत्मा के ७८ वर्ष नहीं होते। वे तो शरीर के ही होते हैं। इसलिए फिर केवल शारीरिक दृष्टि रह जायगी।

गांधीजी ने हमें चरखा दिया। इस चरखे का अर्थ यह है कि निःशस्त्र

जनता प्रतिकार के लिए खड़ी हो रही है। हमारी भांति दूसरे लोग भी संसार में निःशस्त्र किये जा रहे हैं। अब केवल चार राष्ट्रों के हाथों में शस्त्र रहनेवाले हैं। शेष सारे राष्ट्र निःशस्त्र ही हो जायंगे। इसीको ये लोग नव-रचना अर्थात् 'न्यू आर्डर' कहते हैं। पुरानी रचना जा रही है और उसके स्थान पर नई रचना आ रही है। परन्तु वह पुरानी व्यवस्था के सारे दोष उत्तराधिकार में लेकर आई है। इसलिए जो सवाल हमारे सामने आया था, वही आज सारे संसार के सामने है। चरखा कहता है कि इन सबके बीच से मार्ग ढूंढ़नेवाली एक चीज संसार में है। चरखा चलाते-चलाते हमारे दिल में यह चिंतन चलना चाहिए कि संसार की बड़ी-से-बड़ी ताकत का मुकाबला करनेवाली एक शक्ति हमारे पास है, जिसके बल पर एक-छोटा-सा बच्चा भी उस बड़ी शक्ति का प्रतिकार कर सकता है। और चूंकि संसार को आज इस विचार की जरूरत है तो इसका प्रत्यक्ष प्रयोग भारत नहीं तो दूसरा कोई देश करेगा।

लोग कहते हैं कि रोज नये शस्त्रों का आविष्कार हो रहा है और अब तो एटमबम भी निकल चुका है। मैं उनसे कहता हूं आपके पास एटम-बम है तो मेरे पास आतमबम है। परन्तु एटमबम के लिए जितना परिश्रम करना पड़ा होगा, उससे अधिक परिश्रम आतमबम के लिए करना होगा। हमें जनता को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए कि हममें से एक व्यक्ति भी इस एटमबम का मुकाबला कर सके।

गांधीजी ने इसीलिए रचनात्मक कार्यक्रम शुरू किया है। लोग कहते हैं कि क्रान्ति से रचनात्मक कार्य का क्या संबंध है? मैं कहता हूं कि क्रान्ति का अर्थ नवरचना ही तो है न? रचनात्मक कार्यक्रम भी नवरचना का ही तो कार्यक्रम है। आज संसार की जो स्थिति है, उसे बदलकर हमें नई व्यवस्था कायम करनी है। वे दूसरे को गुलाम बनाकर जीना चाहते हैं और हम दूसरों को आजाद बनाकर जीना चाहते हैं। वे दूसरों के श्रम का अन्न खाते हैं, हम अपने श्रम का अन्न खाना चाहते हैं। यदि ऐसा नहीं होगा तो हम भी उनके जैसे शोषक, लूटकर खानेवाले बन जायंगे। मैं रोज सुरगांव

जाता हूं। एक दिन एक सज्जन के घर गया। उसके घर पिंजड़े में बन्द एक तोता दिखाई दिया। उसी दिन दिल्ली में जवाहरलालजी का राज शुरू हो रहा था। मैंने कहा, "दिल्ली में जवाहरलालजी का राज शुरू हो गया है। आप भी अपने कर्तव्य का पालन करेंगे या नहीं ?" उन्होंने पूछा, "बताइये क्या कर्तव्य है ? ?" तब मैंने उस तोते को मुक्त करने की बात कही। अंत में वह तोता छोड़ दिया गया। यह घटना कम महत्व की नहीं है, क्योंकि यदि हम अपने लिए स्वतंत्रता चाहते हैं तो वह हमें दूसरों को भी देनी चाहिए।

आज संसार में जिस बड़े पैमाने पर हिंसा की तैयारी हो रही है, उसे देखकर मुझे तो निश्चय हो गया है कि हिंसा का यह राक्षस मरकर ही रहेगा। पहले छोटी-छोटी लड़ाइयां होती थीं। संभव है, उन लड़ाइयों से कुछ लाभ होता होगा। परन्तु अब तो 'टोटल वार' होता है। 'टोटल वार' यानी क्या ? टोटल वार का अर्थ यह कि यहां की सारी स्त्रियों का वहां की सारी स्त्रियों से विरोध, यहां के सब पेड़ों का वहां के सारे पेड़ों से विरोध, यहां के सारे पशुओं का वहां के सारे पशुओं से विरोध और यहां की सारी फसलों का वहां की सारी फसलों से विरोध। और हम सब मिलकर उनकी सब वस्तुओं का नाश करें। इस टोटल वार में सिविल अर्थात् असैनिक जैसी कोई चीज ही नहीं रह जाती। सबकुछ सैनिक है। साइन्स अर्थात् विज्ञान अब इतना बढ़ गया है कि हिंसा का राक्षस अब खुद ही अपनी मौत मर जानेवाला है और अहिंसा अपने-आप बढ़नेवाली है। इसलिए जब बड़े पैमाने पर हिंसा की तैयारी होती है तो मुझे भय नहीं होता, क्योंकि मैं देखता हूं कि अब हिंसा के जाने का और मेरे प्रवेश का समय आ रहा है। दीया बुझने से पहले बड़ा होता है। इसलिए हिंसा ने संसार से अंतिम विदा लेने के पहले की प्रचण्ड तैयारी की है। अब अहिंसा का ही उदय होनेवाला है।

: १६ :

प्रार्थना में विवेक

एक सज्जन लिखते हैं :

"मैं और मेरे कुछ मित्र इधर कुछ वर्षों से हर सोमवार और गुरुवार की शाम को इकट्ठे होकर प्रार्थना करते हैं। प्रार्थना में पहले 'गीताई' के स्थितप्रज्ञ के लक्षणोंवाले श्लोक बोलते हैं और बाद में वहां आया हुआ हर आदमी एक-एक अभंग बोलता है। अन्त में 'अहिंसा सत्य अस्तेय' आदि एकादश-व्रतों के बाद आरती करके प्रार्थना समाप्त करते हैं। हमारी यह पद्धति चालू है। बीच-बीच में कभी सांप्रदायिक कहलानेवाले लोग भी आ जाते हैं। उन्हें भी अभंग कहने को कहते हैं, परन्तु उनमें कभी कोई गबलन (गोपी गीत) गाता है, तो कोई एकनाथ का 'असा कसा देवाचा देव बाई ठकड़ा' तो कोई 'बैकुंठीची मूर्ति आली भीमा तीरी' वाला तुकाराम का अभंग गाता है। हमारी दृष्टि में गबलन में शृंगार और कामुकता-भरा वर्णन आता है, इसलिए उसे गाना ठीक नहीं है। एकनाथ के भजन में भगवान् को ठगोरा कहा है, वह भी ठीक नहीं लगता और तुकाराम के अभंग में भी 'गोकुलांत चोरी केली' यानी चोर कहा गया है। इसलिए हमारी राय है कि उससे प्रार्थना की गंभीरता कम होती है। इसपर सांप्रदायिक लोगों का कहना है कि क्या वे अभंग हमारे बनाये हुए हैं? यह बड़े-बड़े संतों की रचना है, इसमें प्रकट अर्थ की अपेक्षा गूढ़ अर्थ भी हो सकता है। केवल वाच्यार्थ लेने से काम नहीं बनेगा। इसपर हम कहते हैं कि इनमें गहरा अर्थ हो तब भी सामान्य जनों की समझ में कैसे आयगा? इसलिए अपनी प्रार्थना में हम ऐसे अभंगों का पाठ न करें। इस प्रकार हममें विचार-भेद है। इसलिए हमारी मांग है कि इनका समाधान आप कर दें।"

पत्र-प्रेषक का प्रश्न सार्वजनिक उपयोग का है। इसलिए इसपर गहराई से विचार करना जरूरी है। यह प्रश्न और भी कई जगह इसी रूप में खड़ा हुआ है और अनेक बार मुझे इसका विवेचन करना पड़ा है।

सबसे पहले हम यह एक बात याद रखें कि प्रार्थना में हम जो कुछ कहते हैं, वह अपनी चित्त-शुद्धि के लिए होता है। संतों ने अलग-अलग प्रसंगों पर अलग-अलग अभंग लिख रखे हैं। उनमें से हम किन भजनों को चुनें, यह हमारी उस समय की मनःस्थिति पर निर्भर है। क्योंकि यह प्रार्थना हमारी है, हमें अपने शब्दों में ही करनी चाहिए। परंतु अपनी वाणी में इतना बल नहीं, इसलिए हम संतों की वाणी का उपयोग करते हैं, लेकिन हम जिस समय ये भजन गाते हैं, उतनी देर के लिए तो वे हमारी ही वाणी बन जाते हैं। उस समय वे उस कवि या संतों के वचन नहीं होते। इसलिए हमको ऐसे भजनों और पदों का ही चुनाव करना चाहिए, जो हमारे मन में सहज ही बैठ सकें। जिन पद्यों का हम चुनाव नहीं करते, वे बेकार हैं, सो बात नहीं। उनमें गूढ़ अर्थ भी हो सकता है और शायद नहीं भी। हमें इस विवाद में पड़ने की जरूरत नहीं। यदि सरल अर्थवाले पद्य सुलभ हों तो हम गूढ़ पद्यों के चक्कर में क्यों पड़ें ?

पत्र-प्रेषक के प्रश्न का उत्तर इतने में आ जाता है। परन्तु सत्य की खोज की दृष्टि से हमें इस प्रश्न पर और गहराई से विचार करना होगा। एक तो यह कि संतों की छापवाले सभी अभंगों को उनके मानना ठीक नहीं। तुकाराम के जीवन-काल में ही अनेक लोग उनके नाम पर अभंगों की रचना करने लग गए थे। स्वयं तुकाराम ने उसका विरोध किया है। परंतु फिर भी ऐसे कितने ही संतों के नाम पर ऐसा बहुत-सा कूड़ा-करकट जमा कर दिया गया है। इसलिए सुवर्ण मार्ग तो यही है कि जो बात हमारे दिल को सही लगे, उसीको ग्रहण किया जाय। जो सही न लगे, उसे नम्रतापूर्वक छोड़ दिया जाय, फिर वह चाहे किसीके नाम पर हो। परन्तु इन दिनों भक्तिमार्गी कहलानेवाले लोग इतने मूढ़ हो गये हैं कि संतों के नाम पर गाया जानेवाला भजन, फिर वह कितना ही खराब हो, इनकी श्रद्धा का पात्र

बन जाता है। उन्हें उसका अर्थ समझने की भी जरूरत नहीं होती और उनकी भक्ति का आचरण से कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह भक्ति नहीं, भक्ति की विडंबना है।

परन्तु यदि यह सिद्ध हो जाय कि अमुक भजन क्षेपक नहीं हैं, स्वयं उन-उन संतों द्वारा लिखे गए हैं, फिर भी सारे भजनों को प्रमाण-स्वरूप मान लेने की कल्पना छोड़ देनी चाहिए। भारत में बीच का जो गुलामी का समय गुजरा है, उसमें साहित्यिकों के दिमाग में इतना शृंगार और इतनी कामुकता भरी दिखाई देती है कि जानकार को भारत के पतन का दूसरा कारण ढूंढ़ने की जरूरत ही नहीं रहती। शृंगार को सब रसों में श्रेष्ठ बना दिया गया था और उसका सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विश्लेषण करने में ही पण्डिताई की सफलता मानी गई थी। ऐसे विषयासक्त वातावरण में अवतरित संतों को भी यदि भक्ति-रस को शृंगार की भाषा में रखने का मोह हुआ या उन्हें लगा हो कि केवल इस प्रकार ही लोगों को भक्ति की तरफ मोड़ा जा सकता है, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। आज हम अहिंसावादी भी, अपनी बात लोगों की समझ में आ जाय, इसलिए क्या 'सत्याग्रह की लड़ाई', 'आक्रमणकारी अहिंसा', 'अहिंसक सेना', 'अहिंसा का तंत्र', 'अहिंसा का दबाव' (प्रेशर), 'अहिंसा की जबरदस्ती' (कोअर्शन) वगैरा शब्दों का प्रयोग नहीं करते ? यही संतों ने भी किया। दोनों तरफ मोह भी एक, और फलित भी एक। प्रचार जल्दी, परन्तु विचार दूषित हो जाता है। इसलिए हम जो कुछ पढ़ें या सुनें, सारासार-विवेक को सही-सलामत, जाग्रत रखते हुए पढ़ें और सुनें, फिर वे संतों के भजन हों, धर्मग्रन्थ हों या सत्याग्रह-साहित्य हो।

काल-प्रवाह के साथ-साथ मनुष्य के मन का भी विकास होता रहता है। इसलिए पूर्वजों की कृति में से केवल सारवस्तु ग्रहण कर लेनी चाहिए, असार को छोड़ देना चाहिए। हम उनके वंशजों में यह हिम्मत होनी चाहिए। इस हिम्मत को मैं श्रद्धा कहता हूं। नचिकेता के बाप ने दुबली और मरियल गाएं दान में दीं। उपनिषद् में कहा है कि उन्हें देखकर नचिकेता के मन में श्रद्धा जागी—'श्रद्धा आविवेश' और उसने अपने पिता से

कहा, "यह क्या दान शुरू किया है आपने ?" वही श्रद्धा हमारे अन्दर भी हो। इसके अभाव में हमारी आज की प्रार्थना और भजन वीर्यहीन और अकिंचित्कर बन गये हैं। यों हमारे यहां हर गांव में भजन हो रहे हैं, परन्तु उनमें से कहीं सामर्थ्य का निर्माण नहीं हो रहा है। इसका कारण यही है कि उनमें सच्ची श्रद्धा नहीं है।

: २० :

ज्ञानदेव का गीतार्थ

'सत्यकथा' के जनवरी अंक में प्रभाकर का लिपि-सुधार-संबंधी एक लेख प्रकाशित हुआ है। मुझे दिखाने के लिए कुन्दर वह अंक लेकर मेरे पास आया था। मैं उस मासिक को सहज रूप से उलट रहा था तो मुझे श्री फाटक का 'ज्ञानेश्वरी का गीतार्थ' लेख दिखाई दिया। उसमें **'यद् यद् विभूतिमत् सत्वं'** के ज्ञानदेव के भाष्य के बारे में कुछ गलतफहमी मालूम हुई। इस संबंध में अनेक लोगों ने ऐसी ही भूल की है। इसलिए यह लेख लिख रहा हूं। श्लोक इस प्रकार है :

यद् यद् विभूतिमत् सत्वं
श्रीमद् ऊर्जितमेव वा
तत् तदेव अवगच्छ त्वं
मम तेजोंश-संभवम् ॥

ज्ञानदेव के भाष्य पर विचार करने के पहले इस श्लोक का अर्थ समझ लेना चाहिए। लोकमान्य तिलक ने इसका अर्थ यों किया है—

"जो-जो वस्तु वैभव-लक्ष्मी अथवा प्रभाव से युक्त है, वह मेरे तेज के अंश से उत्पन्न हुई है, ऐसा समझ।"

अन्य टीकाकार भी इसी प्रकार का अर्थ करते हैं। परन्तु श्लोक की सूक्ष्मता इस अर्थ में नहीं है। दसवें अध्याय में विभूतियों का वर्णन है। इस वर्णन के उपसंहार के रूप में यह श्लोक है। इसलिए इसमें 'विभूतिमत्' की तुलना में 'श्रीमत्' और 'ऊर्जित्' को रखने का प्रश्न है ही नहीं। जो-जो विभूतिमत् हैं, वे मेरे अंशरूप हैं, यह मुख्य वाक्य है। और विभूतिमत् के दो प्रकार—श्रीमत् और ऊर्जित् उसके अन्दर—पेट में—बताये गए हैं, उसी

प्रकार जिस प्रकार हम किसी बात को समझाने के लिए कोष्टक में लिख देते हैं। विभूति दो प्रकार की होती है :

१. श्रीमत् अर्थात् वैभवयुक्त, साधन-सामग्री-संपन्न, नैतिक सद्गुणों से मंडित। संस्कृत के 'श्री' शब्द का अर्थ इतना व्यापक है।

२. ऊर्जित अर्थात् (बाह्यवैभव न होते हुए भी) अंतस्तेज से, आत्म-ज्ञान से संपन्न। इन्हीं दो प्रकारों के बारे में जिसका योग अधूरा रह गया है, उसको आगे जन्म कैसे प्राप्त होता है, गीता के छठे अध्याय में भगवान् ने यह कहा है। 'शुचि श्रीमान्' विरुद्ध 'धीमान् योगी', ऐसी वहां भाषा है। वहां विशिष्ट अर्थ है, यहां व्यापक वृत्ति है। विभुति के इन दो प्रकारों के ऐतिहासिक उदाहरण लेने हों तो अशोक और शंकराचार्य के नाम लिये जा सकते हैं। और प्रकृति में से दें तो तारा-मंडल के साथ घूमनेवाला चन्द्र और एकाकी चमकनेवाला सूर्य का दिया जा सकता है। ज्ञानदेव ने पहली विभूति को इस प्रकार विशद किया है :

'जेथ जेथ संपत्ति आणि दया
दोन्ही बसती आलिया ठाया
ते ते जाण धनंजया, अंश माझे।

अर्थात्—हे धनंजय, जहां-जहां संपत्ति और दया एक साथ निवास करती हैं, जान ले कि वहां मेरा अंश है।

मूल श्लोक में आये 'श्री' शब्द का स्वारस्य प्रकट करने के लिए संपत्ति और दया इन दो शब्दों की योजना है। दया शब्द अपनी तरफ से नहीं जोड़ा गया है, न यह 'ऊर्जित' शब्द का ही अर्थ है। छठे अध्याय के अनुसार यहां 'श्री' शब्द को समझाया गया है। तब 'ऊर्जित' शब्द को ज्ञानदेव महा-राज ने किस प्रकार समझाया है ? क्योंकि इस श्लोक पर यही एक ओवी (दोहा) है।

यहां बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण भूल हो गई है। उसके कारण ज्ञानदेव ने 'ऊर्जित' शब्द का जो विस्तृत विवेचन किया है, वह लुप्तप्राय: हो गया है। छापने-वालों ने यह सारा विवरण भूल से अगले श्लोक के नीचे छाप दिया है,

जिसके साथ इसका कोई संबंध नहीं है । परन्तु आश्चर्य है कि वह किसीको अखरता नहीं । वह विवरण इस प्रकार है :

अथवा एकलें एक बिंब गगनीं । परी प्रभा फांके त्रिभुवनीं
तेवीं भज एकाची सकल जनीं । आज्ञा पालिजे ॥
तयातें एकलें म्हणों म्हण । तो निर्धन या भाषा नेण
काय कामधेनूसवें सर्व साहान । चालत असे ॥
तियतें जें जेधवां जो मागे । तें तें एकसरें चि प्रसवों लागे
तेवीं विश्व-विभव तया आंगें । होऊनि असती ॥
तयातें ओलखावया हे चि संज्ञा । जें जगें नमस्कारिजे आज्ञा ।
ऐसे आहाति ते जाण प्राज्ञा । अवतार माझे ॥

—हे प्राज्ञ अर्जुन, सुन ! मैं तुझे अपने अवतारों की पहचान बताऊं। सूर्य गगनमंडल में अकेला है, परन्तु उसका प्रकाश तीनों लोकों को आलोकित करता है । समस्त लोक इसी प्रकार मुझ अकेले की आज्ञा का पालन करते हैं। उसे अकेला कहना भूल है। उसे क्या कोई साधनहीन, निर्धन कह सकता है ? क्या कामधेनु अपने साथ साधन-सामग्री के गाड़े लादकर चलती है ? उससे जब कभी जहां कहीं कोई चीज मांगता है, वह अपने प्रताप से तत्काल वहीं दे देती है। इस प्रकार जिसके अन्दर सारे विश्व का वैभव निवास करता है, उसे मेरा अवतार जानो । उसकी सीधी-सादी और थोड़े में यही पहचान है कि सारा संसार उसकी आज्ञा मानने के लिए हाथ बांधे सदा खड़ा प्रतीक्षा करता रहता है ।

विभूतियों में तर-तम-भाव यानी विवेक ही करना हो तो कहना होगा कि 'श्रीमत्' की अपेक्षा 'ऊर्जित्' विभूति श्रेष्ठ है । यह सूचित करने के लिए पहली विभूति के बारे में "धनंजय, उन्हें अंश जानो" और दूसरी के बारे में "प्राज्ञ अर्जुन, उन्हें मेरे अवतार जानो" इस भाषा का प्रयोग ज्ञानदेव ने किया है। 'अंश' और 'अवतार' यों तो एक ही हैं, परंतु अवतार शब्द स्पष्ट ही अधिक योग्यता सूचित करता है । इसी प्रकार अर्जुन को एक स्थान पर केवल 'धनंजय' और दूसरे स्थान पर 'प्राज्ञ' कहकर ज्ञानदेव ने ध्वनि में

बढ़ोतरी कर दी है।

परन्तु इस प्रकार की विभूतियों में तर-तम के भेद को सूचित करना इस अध्याय का हेतु नहीं है। इसके विपरीत वह तो यह बताना चाहता है कि यह संपूर्ण विश्व परमात्ममय है और इसके साधन के रूप में विभूति-चिंतन करना होता है। इसी बात को ज्ञानदेव ने 'अथवा बहुनैतेन' श्लोक के भाष्य में और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि विभूतियों में सामान्य और विशेष का भेद करना बड़ा दोष है। परन्तु 'ऊर्जित्' शब्द के संबंध में विवेचन का प्रारंभ करते हुए ज्ञानदेव ने 'अथवा' शब्द का प्रयोग किया है। और 'अथवा बहुनैतेन' श्लोक में भी 'अथवा' शब्द है। इस साम्य के कारण यह व्याख्यान इसी श्लोक के नीचे जोड़ा गया। यह भूल वारकरियों[१] द्वारा प्रकाशित ज्ञानेश्वरी में है। इसका अर्थ यह हुआ कि यह भूल उनकी मूल-पोथी में भी होगी। वहां 'अथवा बहुनैतेन' से संबंधित भाष्य का कुछ अंश 'यद् यद् विभूतिमत्' श्लोक के नीचे लगा दिया गया है।

सारांश यह कि 'यद् यद् विभूतिमत् सत्वं' श्लोक का बहुत-से टीका-कारों ने जैसा स्थूल अर्थ किया है, वैसा ज्ञानदेव महाराज ने नहीं किया। उनका अर्थ अत्यन्त उद्देश्यपूर्ण और वह भी बहुत ही स्पष्टतापूर्वक रखा गया है।

---

[१] एक भक्त-संप्रदाय के लोग, जो हर साल दो या अनेक बार पंढरपुर की यात्रा करते हैं।

: २१ :

जीवन-समस्या का हल

प्राणी का जीवन वासनाओं का एक खेल है। वासना अर्थात् जीव का जीवत्व। अन्य प्राणियों की तरह मनुष्य के जीवन में भी यह खेल चल रहा है। तटस्थ भाव से देखें तो यह खेल मालूम होगा, परन्तु जो उसमें उलझा हुआ है, वह तो उसीके कारण बेजार है। इसलिए अनुभवी पुरुषों ने मनुष्य का अंतिम ध्येय वासनाओं से मुक्ति तय किया है। परन्तु वासना जैसे रुलाती है, उसी प्रकार हँसाती भी है। रुलानेवाली वासना बुरी लगती है और हँसानेवाली अच्छी लगती है। परन्तु उसकी भी एक मर्यादा होती है। इसी-लिए तो जब बच्चे बहुत हँसते हैं तब मां उनको समझाती है कि 'बहुत हँसो मत, नहीं तो रोओगे।'

'दुखदायी वासना नहीं चाहिए, सुख देनेवाली हो, इसे 'वासना-' विवेक' कहेंगे। सुखदायी वासना भी जरूरत से अधिक न हो, इसे 'वासना-नियमन' कह सकते हैं। और सभी वासनाओं से मुक्ति पाने को 'वासना-निरसन कहेंगे।

वासना-निरसन बड़ी दूर की और बहुत ही ऊंची बात है। इस जीवन में हम शायद उसमें कभी सफलता नहीं पा सकेंगे। परन्तु इस जीवन में भी वह निरुपयोगी चीज नहीं है। दिशा-दर्शक ध्रुव के समान वह उपयोगी है। ध्रुव तक हम आज या कभी भी पहुंच न सकें, परन्तु वही हमारे जहाज को सलामत रखता है।

इस ध्रुव तारे की दिशा में प्रतिदिन वासना-विवेक और वासना-नियमन करते रहना ही शिक्षण का कार्य है। इसकी बाहरी योजना समाज-शास्त्र करता है और भीतर का काम धर्म करता है। आजकल कुछ लोग धर्म के

नाम से ऊबे-से दिखाई देते हैं। तब उनका सारा आधार स्वभावतः समाज-शास्त्र बन जाता है। इस कारण बेचारा समाज-शास्त्र बड़ा तंग हो जाता है और तंग समाज-शास्त्र तापदायक होता है। उससे बगावत की भावना पैदा होती है। उसे दबाने के लिए राज्य-सत्ता खड़ी होती है। धर्म गया कि राज्य आया। फिर वह पूंजीपतियों का साम्राज्य हो, किसान और मजदूरों का अधिराज्य हो, या सिरों की गिनती करनेवाला लोकतंत्र हो।

खराब वासना को छोड़ें और अच्छी को पकड़ें। उसे भी अपरिमित रूप से न बढ़ने दें। उसे काबू में रक्खें। फिर उसका क्या करें? उसकी पूर्ति करें। इसे हम 'वासना-समाधान' कहेंगे? यह कैसे सधेगा? मानव के सामने यह भी एक पेचीदा सवाल है। अनेकविध वासनाओं के साथ मनुष्य में जाड्य-वासना भी एक होती है। वह वासनाओं की प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया ही होती है। भली-बुरी, सीमित-असीमित सब वासनाएं एक तरफ और यह जाड्य-वासना एक तरफ, इस तरह दोनों के बीच खींचतान चलती रहती है। भीतर से मनुष्य चाहता है कि वासनाओं का निरसन हो, परन्तु देहभावना से जबतक मनुष्य अलग नहीं हो जाता, यह होना संभव नहीं। यह तो परम पुरुषार्थ का काम है। उसे करने का दिखावा जाड्य-वासना करती है। वासना-निरसन का एक और सुलभ मार्ग प्रकृति ने प्रस्तुत कर रक्खा है। वह है शरीरश्रम। उसे टालकर वासना-पूर्ति कैसे की जाय, उस युक्ति का शोध भी जाड्य-वासना करती रहती है। फिर वासनाओं को परिमित रखने का लक्ष्य भी समाप्त हो जाता है। वर्तमान में भविष्य की तैयारी कैसे की जाय, यह वृत्ति पैदा होती है और उसमें से संचय-परायण अनर्थकारी अर्थशास्त्र का निर्माण होता है। वेदों की सीख के अनुसार **'अद्या अद्या, श्वः श्वः'** अर्थात् आज की आज और कल की कल, यही इस समस्या का हल है। इसे हम वासना-नियंत्रण कहेंगे।

यह वासना-नियंत्रण कुछ विचारवान पुरुष स्व-संतोष से सदा ही करते रहते हैं और करोड़ों मजबूरी से कर रहे हैं। परन्तु सबको वह सन्तोष के साथ सधना चाहिए। इसका एकमात्र उपाय यही हो सकता है कि सभी

शरीर-श्रम-निष्ठा के साथ अपने में सबका ध्यान रखने की वृत्ति पैदा करें। इसको गीता आत्मौपम्य या साम्ययोग कहती है। यही मानव-जीवन की पहेली का हल है, क्योंकि इसमें आज की वासना का समाधान और अन्तिम वासना-निरसन दोनों की गुंजाइश है।

: २२ :

वाणी का सदुपयोग

वाणी ईश्वर द्वारा मनुष्य को दी गई एक बड़ी देन है। वह मनुष्य के चिंतन का फलित है और उसका साधन भी। चिंतन के वगैर वाणी नहीं और वाणी के वगैर चिंतन नहीं और दोनों के वगैर मनुष्य नहीं।

मनुष्य के जीवन का समाधान वाणी के संयम और उसके सदुपयोग पर निर्भर है। मनुष्य के सारे चिंतन-शास्त्र वाणी पर आधारित हैं। दर्शनों का सारा प्रयास विचारों को वाणी में ठीक से पेश करने के लिए रहा है। वाणी विचार का शरीर ही है। कोई खास विचार किसी खास शब्द में ही समाता है। इसलिए गंभीर चिंतन करनेवाले निश्चित वाणी की खोज करते रहते हैं।

पतंजलि के बारे में कहते हैं कि उसने चित्त-शुद्धि के लिए योग-सूत्र लिखे, शरीर-शुद्धि के लिए वैद्यक लिखा और वाक्-शुद्धि के लिए व्याकरण-महाभाष्य लिखा। ये तीनों चीजें लिखनेवाला पतंजलि एक ही था या अलग-अलग इस ऐतिहासिक प्रश्न को हम अभी छोड़ दें। परन्तु महत्व की बात यह है कि व्याकरण का उद्देश्य वाणी की शुद्धि करना माना गया है।

भक्ति-मार्ग की मुख्य सिखावन है कि वाणी से हरिनाम लेते रहना चाहिए। शरीर संसार में काम भले ही करता रहे, किन्तु वाणी में संसार न हो। वाणी का मन पर गहरा संस्कार पड़ता रहता है। कोई अगर सुन्दर भजन सुनकर सो जाय तो सवेरे उठते ही बराबर वही अपने-आप याद आ जाता है, इतना उसका नाद नींद में भी मन में घूमता रहता है। तुलसीदासजी ने कहा है :

राम नाम मणि दीप धरु जीह देहरी द्वार,
तुलसी भीतर बाहरहुं जो चाहस उजियार।

अन्तर का आत्मा और बाहर का जगत् इन दोनों के मध्य मानो यह वाणी देहरी है। अन्दर और बाहर दोनों ओर अगर तुझे प्रकाश चाहिए तो वाणी की इस देहरी पर रामनाम का बिना तेल-बाती का मणि-दीप रख दे।

धार्मिक पुरुषों ने सबसे पहला आदेश 'सत्यं वद' का दिया है। इसका खुलासा करते हुए मनु ने कहा है कि सारे व्यवहार वाणी पर अवलंबित हैं। इसलिए जिसने इस वाणी को ही चुरा लिया, उसने सब प्रकार की चोरी एक साथ की। कानून भी चाहता है कि 'सत्य, पूर्ण सत्य और केवल सत्य' ही कहो।

वाणी से मित्रता भी की जा सकती है, और वैर भी। वाणी का वैर जितना टिकता है उतना शस्त्रों का भी नहीं टिकता। इसलिए सारे विश्व से मैत्री की इच्छा रखनेवाले विश्वामित्र की प्रार्थना है —**"अमृतं मे आसन्"** मेरी वाणी में अमृत हो। परन्तु लगनवाले व्यक्ति कटु बोलते हैं, ऐसा आजकल का अनुभव है। परन्तु वास्तव में उतावले लोग कटु बोलते हैं। लगनवाले व्यक्ति को जब अक्ल नहीं होती तब वह उतावला हो जाता है और फिर कटु बोलने लगता है। अक्ल आ जाती है तो वह मित और मधुर बोलता है और काम में लग जाता है।

मधुरता सत्य का अनुपान है और मितता उसका पथ्य है। जिसे हम सम्यक् वाणी कहते हैं वह सत्य, मित और मधुर होती है और वही परिणामकारक भी होती है। समाज का हित किस बात में है, यह समझना कभी कठिन हो सकता है, परन्तु सम्यक् वाणी से ही वह सधेगा, यह किसी भी आदमी के लिए समझना कठिन नहीं होना चाहिए।

परन्तु यही आज भारी हो रहा है। समाज-हित के नाम पर कार्यकर्ताओं की वाणी दूषित हो गई है, अर्थात् मन ही दूषित हो गया है। फिर कृति कैसे भूषित हो सकती है ?

आज लेखन व भाषण के साधन सुलभतम हो गये हैं। परन्तु शायद

इसी कारण सभ्य वाणी दुर्लभ हो गई है। सभ्य वाणी को खोकर सुलभ साधनों की प्राप्ति करना यानी कवि की भाषा में नेत्र बेचकर चित्र खरीदने जैसा है। मानव की महिमा केवल सुलभतम साधनों को संपादन करने में ही नहीं, अपितु उनको प्राप्त करके उनका कुशलतम उपयोग करने में है।

: २३ :

सत्य और सौंदर्य

रवीन्द्रनाथ प्रतिभावान कवि और नये विचारों के प्रवर्तक के नाम से विश्वविख्यात हैं। ऐसे व्यक्ति के प्रत्येक शब्द की ओर लोगों का ध्यान जाना स्वाभाविक है। पिछले दिनों[१] इटली से लौटने के बाद उन्होंने लोगों के सामने अपना इटली-संबंधी अनुभव रखा था। उसमें सौंदर्य-रसिक कवि ने अपनी दृष्टि से, इटली के तानाशाह मुसोलिनी के संबंध में अनुकूल राय प्रकट की थी। उसपर समाचार-पत्रों में टीका की गई और रविबाबू ने उसका खुलासा दिया है। उसमें उन्होंने कहा है कि मेरे कथन से यदि यह मान लिया जाय कि मुझे मुसोलिनी की कल्पना और कार्य-प्रणाली पसन्द है, तो वह मेरे संबंध में गलतफहमी पैदा कर लेना है। कला-रसिक की दृष्टि से मुसोलिनी के व्यक्तित्व का मुझपर अच्छा प्रभाव पड़ा है। किन्तु उससे उसके आंदोलन के संबंध में मेरे नैतिक निर्णय का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। नैतिक निर्णय के लिए और भी अधिक निरीक्षण करना होगा। वह मैं नहीं कर सका। इसलिए नैतिक दृष्टि से उसके संबंध में कहने के लिए मेरे पास कुछ नहीं है। गलतफहमी दूर करने के लिए इतना स्पष्टीकरण पर्याप्त है।

इस स्पष्टीकरण में नैतिक सत्य और सौंदर्य के बीच जो भेद किया गया है, हमें केवल उसीपर विचार करना है। रविबाबू की दृष्टि यानी सौंदर्य-प्रेमी कला-रसिक कवि की दृष्टि। उनकी राय मानी जाती है कि जो सुन्दर है, उसे सत्य होना ही चाहिए और वह है भी। किन्तु यह पूर्ण दृष्टि का कथन हुआ। सत्य और सौंदर्य के बीच विरोध नहीं हो सकता। यह सिद्धान्त बिलकुल

[१] सन् १९२६ में

सत्य है। परन्तु इतना अद्वैत जबतक हमारी आंखों में समा नहीं जाता तब-तक सौंदर्य की कसौटी पर विश्वास रखने से काम नहीं होगा। अपूर्ण अवस्था में सौंदर्य की कसौटी धोखेभरी है। इसलिए साधक को एक तो यह नियम बनाना चाहिए कि सत्य और सौंदर्य के बीच द्वैत भाव को स्वीकार किया जाय, और जितना सत्य हो उतना ही मान्य किया जाय, भले ही वह सुन्दर न भी हो। दूसरे, यदि अद्वैत मानना हो तो वह इस प्रकार मानना चाहिए कि जो सत्य है, उसे सुन्दर होना ही चाहिए, चाहे वह सुन्दर न भी दिखता हो। जो सुन्दर है वही सत्य है, इस प्रकार का अद्वैत न माना जाय। जो रुचिकर है, वही हितकर है, यह शुद्ध जबान का अद्वैत-सूत्र है और अशुद्ध जबान का द्वैत सूत्र यह है कि "रुचिकर अलग है और हितकर अलग। किन्तु रुचिकर से हितकर श्रेष्ठ है।" अशुद्ध जबान का भी अद्वैत-सूत्र होता है। किन्तु वह शुद्ध जबान के अद्वैत-सूत्र से उलटा है, यानी, "हितकर वही रुचिकर है।" रविबाबू के स्पष्टीकरण से साधकों को इस तरह विवेक करना सीखना चाहिए। रविबाबू सौंदर्योपासक हैं, तब भी साधक का विवेक उन्होंने नहीं छोड़ा है।

: २४ :

समग्रता की सुन्दरता

मुझे जब बताया गया कि इस विद्यालय का उद्घाटन[१] मुझे करना है तो उस निमंत्रण को स्वीकार करते हुए मुझे कुछ संकोच हुआ, क्योंकि उद्घाटन-समारंभ एक प्रकार से केवल समारंभ ही माना जाता है। उद्घाटन करनेवाले पर उसकी कोई जिम्मेदारी नहीं रहती, परन्तु मेरी ऐसी स्थिति नहीं है। मैं इस विद्यालय का उद्घाटन करूं, इसका अर्थ यह है कि इसकी जिम्मेदारी उठाने में भी मैं हाथ बटाऊं। यह भार ऐसा नहीं, जिसे प्रेमपूर्वक स्वीकार करने से मैं इन्कार कर सकूं। इसलिए मैं यहां आ ही गया।

परन्तु मेरे संकोच का एक और भी कारण यह है कि मैं दक्षिणात्य हूं। दक्षिणात्यों के बारे में एक प्रसिद्ध कहावत है कि वे आरंभशूर होते हैं। परन्तु मैंने इस कहावत को मिथ्या साबित करने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया है। बुद्धि के लक्षणों के सम्बन्ध में हमारे पूर्वजों ने कहा है :

अनारम्भो हि कार्याणां प्रथमं बुद्धि-लक्षणम्।
आरब्धस्यान्त-गमनं द्वितीयं बुद्धि-लक्षणम्॥

अर्थात्—कोई कार्य आरम्भ ही न करे यह बुद्धि का पहला लक्षण है; लेकिन अगर कार्य आरम्भ कर दे तो उसे अंत तक ही पहुंचाये, यह दूसरा लक्षण है।

परन्तु इस कार्य का आरंभ करके हमने पहले लक्षण को तो तोड़ दिया है। अब दूसरे लक्षण का तो पालन करके दिखा दें। काम शुरू कर दिया है। अब इसे किसी भी तरह पूरा करना ही चाहिए।

१—**समग्र-ग्राम-सेवा विद्यालय का उद्घाटन** (२. १०. १९४५)

अभी तक जितना भी काम हुआ, उससे हमें दृष्टि मिली है। दृष्टि बड़ी कठोर देवता है। वह पहले से दर्शन नहीं देती। काम करते-करते उसका दर्शन होता है। जिन्होंने पर्वतों पर चढ़ने का प्रयत्न किया है, वे जानते हैं कि जैसे-जैसे ऊपर चढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे दृष्टि व्यापक होती जाती है। जैसे-जैसे पांव ऊंचे पर पहुंचते जाते हैं, वैसे-वैसे दृष्टि विशाल होती जाती है। यह उसकी विशेषता है।

इस विद्यालय को 'समग्र ग्राम सेवा विद्यालय' कहा जाता है। समग्रता में सौन्दर्य है। किसी सुन्दर बालक के एक-एक अवयव को देखेंगे तो उसमें सौन्दर्य दिखाई नहीं देगा। उदाहरणार्थ, यदि हम केवल उसकी नाक ही देखें तो नथनों में हमें गुफा की भयंकरता दिखाई देगी। परन्तु सम्पूर्ण बालक सुन्दर ही दीखेगा। गीता में भगवान् ने भी समग्र दर्शन की सिफारिश की है। थोड़े ज्ञान से हम निर्भय नहीं हो सकते। इसलिए केवल खादी के ज्ञान से काम नहीं होगा। जीवन की अन्य सब बातों पर भी ध्यान देना होगा।

परन्तु इस समग्र दर्शन में भी एक खतरा है। हम जिसे समग्र कहते हैं, वह एक निर्गुण जैसी चीज बन जाती है। यह मैं अपने अनुभव से कह रहा हूं। दस-बारह वर्ष पहले 'समग्र ग्राम-सेवा' की दृष्टि से ही कार्यकर्ताओं को मैंने गांवों में काम करने के लिए भेजा था। वे पूछने लगे—हमें वहां क्या करना चाहिए? मैं क्या उत्तर देता? मैंने कहा घूमते रहिये।

कलिः शयानो भवति, संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठन् त्रेता भवति, कृतं संपद्यते चरन्॥

इसलिए श्रुति कहती है कि चलते रहो, घूमते रहो। केवल घूमते ही रहने से सत्य का दर्शन होगा। तब वे लोग घूमने लगे।

कुछ महीने इस तरह घूमते रहे। घूमने का लाभ भी स्पष्ट दीखने लगा। चेहरे पर तेज चमकने लगा। सत्य युग का परिणाम दीखने लगा। परन्तु यह भी प्रकट दीखने लगा कि केवल समग्रता के इस प्रकार के प्रयोग से ही काम नहीं चलेगा। हमारे पूर्वजों ने कहा कि 'एक साधे सब सधे, सब साधे सब जाय।' कुछ दिन कताई, कुछ दिन तेलघानी और कुछ दिन नई तालीम।

इस प्रकार काम किया जायगा तो कोई सिलसिला न बनेगा, कुछ भी हाथ न आयगा। संस्कृत में आकाश को शून्य कहते हैं। जो पूर्णरूप से व्यापक बनने का प्रयत्न करेगा वह शून्य बन जायगा। इसलिए एक-एक विषय का शिक्षण पूरा करना चाहिए।

और भी एक बात है। श्री नरहरिभाई ने अपने भाषण में कहा कि आपको यहां केवल दृष्टि मिलेगी। फिर आप जब स्वत: काम करने लगेंगे, तब अधिक अनुभव होने लगेगा। यह ठीक ही है। परन्तु यह दृष्टि भी आपको तभी प्राप्त होगी जब इस विद्यालय में आप जो कुछ करेंगे, वह जिनकी सेवा आपको करनी है, उनसे एकरूप होकर करेंगे, अन्यथा जल के बाहर रहकर तैरना सीखने जैसी बात हो जायगी। तैरने का सम्पूर्ण ज्ञान-कोश पढ़ जाने पर भी गंगा में डूबने की नौबत आ जायगी। इसलिए नई तालीम के हमारे सिद्धान्त के अनुसार हमें काम करते-करते ही सीखना चाहिए। जिस प्रकार प्रैक्टिसिंग स्कूल के बगैर ट्रेनिंग कालेज नहीं चल सकता, उसी प्रकार प्रतिदिन ग्रामसेवा का कुछ-न-कुछ काम यदि आप नहीं करेंगे, तो समग्र ग्रामसेवा का शिक्षण नहीं ले सकेंगे।

तीसरी बात एक छोटी-सी सूचना के रूप में मैं आपसे कहना चाहता हूं। वह यह कि आज आप महाराष्ट्र में आकर रह रहे हैं। यहां की भाषा मराठी है। इसलिए आपको मराठी भाषा भी सीख लेनी चाहिए। उर्दू तो आप सीखेंगे ही, क्योंकि उसके बारे में बापूजी ने बहुत-कुछ कहा है। परन्तु आप लोग मराठी नहीं सीख रहे हैं। यहांपर अनेक अखिल भारतीय संस्थाएं हैं। तामिलनाड और केरल के लोग भी आते रहते हैं। परन्तु यहां के लोगों की भाषा यदि आप नहीं सीखेंगे तो अंग्रेजों के समान सेवा के नाम पर आप केवल मेवा ही खायेंगे, सेवा तो कुछ होगी नहीं। इसलिए हमारा कर्तव्य है कि हम आस-पास की भाषा भी सीखें।

: २५ :

अचित्तं ब्रह्म

आपकी छपी हुई-सी रिपोर्ट मिली। छपी हुई-सी अर्थात् छापे-जैसी सुन्दर और सांचे में ढली-सी एक छाप की। आप निरलस दौरे करते ही जा रहे हैं, यह देखकर किसी भी स्थाणु को आपसे ईर्ष्या होगी। अपनी रिपोर्ट के गांवों के नाम आपको संध्या के समान कण्ठस्थ ही हो गये होंगे? आपने लिखा है कि जनता से काफी सम्पर्क हुआ। परंतु मुख्य प्रश्न तो यह है कि क्या जनता के हृदय में स्थान मिला?

ऐसा प्रश्न पूछना तो सरल है, लेकिन उसका जबाव 'हां' में देना कठिन है। तेलुगु में एक कहावत है कि "पूछनेवाला सदा सीनाजोर रहता है। जबाव देनेवाला सदा कमजोर।" क्योंकि प्रश्न पूछनेवाले को शब्द ही पर्याप्त हो जाते हैं, जबकि जबाव देनेवाले को काम जरूरी होता है।

अहिंसा का प्रयोग करनेवाले यदि अपने मन का एक चौखटा बना लेंगे और उससे ज़रा भी भिन्न विचार-प्रवाह में फंसे हुए तरुण कार्यकर्ताओं को टालेंगे या उनकी उपेक्षा करेंगे तो काम नहीं चलेगा। **'ब्रह्म तं परादात् यो अन्यत्र आत्मनः ब्रह्म वेद।"** जो ब्रह्म को अपने से अलग मानेगा उसे ब्रह्म अपने से अलग कर देता है। इसलिए अहिंसक पुरुष सबको अपने हृदय में स्थान देने का शक्ति-भर प्रयत्न करता है। हिंसक प्रतिपक्षी से लड़ते समय भी वह उसे अपने पेट में समा लेने का विचार रखता है। फिर दूसरों का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

वेदों में एक वाक्य है—**अचित्तं ब्रह्म जुजुषुर युवानः"** अर्थात् तरुणों को वह ब्रह्म अच्छा लगता है, जिसका चिन्तन कभी किसीने न किया हो। जिसका चिन्तन दूसरों ने कर लिया है, वह उन्हें पसंद नहीं होता। उन्हें

नवीन कल्पना चाहिए। ठीक भी है। उनका जन्म नया है, पुरानी कल्पना से उन्हें कैसे संतोष होगा ? परंतु इस संसार में एकदम नया क्या है ? सनातन सत्य पुराने ही होते हैं। परंतु वे नया रूप, नया वेश धारण कर सकते हैं और वैसा होने पर वे नये बन जाते हैं। नवरूप-धारिणी शक्ति ही सनातन सत्य की सनातनता है। यही उनका स्थायित्व है। केवल परिभाषा बदलने की शक्ति न होने के कारण जब मैं बड़े-बड़े विचारकों को पीछे पड़े देखता हूं तो मुझे उनके कठमुल्लेपन पर दया आती है। सांप अपनी केंचुली उतारकर फिर ताजा बन जाता है। यह केंचुली छोड़ने की शक्ति जिस विचारक में नहीं होती, वह विचारक कैसा ? वह कर्मयोगी भी कैसा ? हम उसे कर्मठ भले ही कह लें। कर्मठ काम करने में जबरदस्त दीखता है, परंतु वस्तुतः वह कर्मशून्य ही होता है। 'ठ' यानी शून्य, यह तो हमारी वर्णमाला ही कहती है।

ज्ञानेश्वरी के प्रारंभ में ज्ञानदेव ने एक शिव-पार्वती-संवाद दिया है। पार्वती पूछती है, "गीता का रूप कैसा है ?" शंकर कहते हैं, "हे मायारूपिणी देवी, जिस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि तेरा अमुक ही रूप है, वही बात गीता की भी है। यह गीता-तत्त्व नित्य-नूतन होता है।" सनातन सिद्धांतों का स्वरूप ऐसा होना चाहिए। अहिंसा पर भी यही न्याय लागू होगा न ?

आपकी रिपोर्ट के निमित्त से मैं यह सहज ही बहुत-कुछ असम्बद्ध बात लिख गया, परंतु इससे आपको, उस समय मेरे दिमाग में क्या विचार चल रहे थे, इसका दिग्दर्शन होगा।

: २६ :

लक्षचंडी का यज्ञ

एक गुजराती भाई लिखते हैं :

आज नोआखाली जिले में और दूसरी जगह पर निराश्रितों को सहायता की बड़ी जरूरत है। बहुत-सी जगहों पर तो अकाल-जैसी स्थित पैदा हो गई है और यहां बंबई में करपात्री नाम के संन्यासी तेरहसौ ब्राह्मणों से लक्षचंडी यज्ञ करवा रहे हैं। इसका किस हद तक धर्म में समावेश होता है? इस यज्ञ के संबंध में आप अपने विचार बतायेंगे तो अच्छा होगा।

यज्ञ की कल्पना तो हर धर्म में मौजूद है। प्राचीन काल में यज्ञ का संबंध अग्नि से जोड़ दिया गया था। मनुष्य को जब अग्नि बनाने की युक्ति मालूम हुई तो उसके आनंद की सीमा न रही। सूर्य आदि देवता तो प्रकृति से प्राप्त हुए हैं, किंतु इस देवता को हमने प्राप्त किया है, इस तरह उसे धन्यता अनुभव हुई।

अग्नि की ओर वह आदरपूर्ण आध्यात्मिक दृष्टि से देखने लगा। अग्नि को उसने अन्न पकानेवाला 'गृहपति', कूड़ा-कचरा जलानेवाला 'पावक', शीत-निवारण करनेवाला और रोग ठीक करनेवाला 'भिषज' (वैद्य), आहार पचानेवाला 'वैश्वानर', स्थान का देवता 'वसति', कर्मयोग की प्रतिमा, प्रतिज्ञा का गवाह, वैराग्य की मूर्ति, वगैरह अनेक भावों से गौरवान्वित किया। अग्नि की ज्वाला लगातार ऊपर चढ़ती रहती है। इसलिए मनुष्य को उसमें जीवात्मा को ईश्वर को मिलने की छटपटाहट दिखाई दी। उस समय घने जंगलों को जलाकर आबाद करनेवाला अग्नि ही 'अग्रगामी' बना। यह सारा अग्निदर्शन वेदों में देखने को मिलता है।

आज अग्नि पहले जैसा दुर्लभ नहीं है। अब जंगलों को जलाना शेष

नहीं रहा, बल्कि कहीं-कहीं तो उन्हें बढ़ाने की आवश्यकता है। देश में खाद्य सामग्री की कमी है। इन सब बातों को ध्यान में रखकर पुराने जमाने की बातों का अनुकरण करते रहना वास्तव में धर्म-हीनता का लक्षण है। किंतु वही धर्म का काम मालूम होता है, यह तामस बुद्धि है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥

—जो बुद्धि अंधकार से घिरी हुई है, अधर्म को धर्म मानती है और सब बातें उलटी ही देखती है, वह तामसी है।

गीता में तामस बुद्धि का लक्षण इस प्रकार कहा है।

भारत में आज जो धर्मबुद्धि दिखाई देती है, वह बहुत-कुछ इसी प्रकार की है। समाज का हित और चित्त की शुद्धि, ये धर्म के काम हैं और दोनों का अनुभव भी यहीं-का-यहीं होता है। धर्म अनुभव की वस्तु है, कल्पना की नहीं। धर्म का आधार शुद्ध-बुद्धि है, अन्धविश्वास नहीं। लाखों गरीबों की सेवा करना सच्चा लक्षचण्डी यज्ञ है; तिल, अक्षत और घी जलाना नहीं। वह जाने-अनजाने दंभ है और इस प्रकार के दंभ में हाथ बंटाना पाप है, यह हमें निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए।

... ...

लक्षचंडी यज्ञ के संबंध में मैंने जो अभिप्राय प्रकट किया है, उसका खंडन करनेवाले पत्र मुझे मिले हैं। उनमें बहुतों में तो केवल दुःख-ही-दुःख प्रकट किया गया है और कुछमें निरी गालियां-ही-गालियां हैं। उनमें से एक पत्र में कुछ तर्क है, इसलिए उसपर विचार करना ठीक समझता हूं। उस पत्र का संक्षेप में सारांश यह है :

'बम्बई में लक्षचंडी यज्ञ के संबंध में 'हरिजन' में जो लेख प्रकाशित हुआ है, उसे देखकर खेद और आश्चर्य हुआ। उसपर से जान पड़ता है कि यज्ञ संस्था के रहस्य का ठीक से आकलन नहीं किया गया। उसमें जो तर्क पेश किया गया है, वह केवल भौतिक दृष्टि से है। यज्ञ-संस्था बहुत ही प्राचीन है और उसका महत्व गीता में भी बताया गया है। लेख में कहा

गया है कि समाज का हित और चित्त की शुद्धि ये दोनों धर्म के काम हैं। दोनों का इसी लोक में अनुभव होना चाहिए। परंतु शास्त्रकारों ने धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है कि वह अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करानेवाला है। अभ्युदय ऐहिक है और निःश्रेयस पारलौकिक। आर्य-संस्कृति में बताये गए सारे धर्म-कृत्य इन्हीं दो तत्वों को लेकर होते हैं। केवल ऐहिक जीवन की ओर ही दृष्टि रहे तो वह भी एकांगी होगी, यह कहे बिना रहा नहीं जाता।"

परलोक के अस्तित्व के बारे में कोई विवाद नहीं है, परंतु देश में एक ओर अकाल हो और दूसरी ओर खाद्य पदार्थ जलाने से परलोक मिलता है, इस कल्पना के बारे में विवाद है। यह कल्पना ऐसी ही है जैसे कोई कहे कि कालेज में जाने के लिए मैट्रिक की परीक्षा में नापास होना पड़ता है। ज्ञानदेव ने अपनी निरुपम वाणी में यह भाव इस प्रकार व्यक्त किया है :

"जयाच ऐहिक धड़ नाहीं
तयाचें परत्र पुससी काई ?"

—जिसका इहलोक का जीवन कतई ठीक नहीं है, उसके परलोक के जीवन का क्या पूछो ? इस लोक की जीवन-शुद्धि ही परलोक-सिद्धि का साधन है, यह बात समझनी चाहिए।

परलोक-साधना के नाम पर मूढ़ विश्वास को चलने देना इहलोक और परलोक दोनों को ही बिगाड़ना है। एक समय यज्ञ में बकरे को मारा जाता था। उससे यज्ञकर्ता और बकरा दोनों का परलोक सधता है, यह माना जाता था। बाद में यह ध्यान में आया कि उसमें एक के बुद्धि-नाश और दूसरे के प्राणनाश होने के सिवा और कुछ नहीं होता। तब आटे का पशु बनाकर मारने लगे। इसका अर्थ इतना ही है कि पुरानी बात अनुचित सिद्ध हो जाने पर भी एकदम नहीं छूटती। आटे का पशु बनाने की कल्पना सात्विक बुद्धि को सहन नहीं होगी। गीता में यज्ञ का महत्व बताया गया है, परन्तु उसमें यज्ञ का सूक्ष्म और व्यापक अर्थ किया गया है। वेदों में भी कहा गया है कि जो भूखे मनुष्य को पका हुआ अन्न देता है और बेघरबार निराश्रित

को सुख बसति कर देता है, वह महान् 'जीव-यज्ञ' करता और स्वर्ग की उपमा बनता है, यानी उसका जीवन ही स्वर्गमय बन जाता है। वह इहलोक में स्वर्ग को उतारता है और मरने के बाद उसे प्राप्त करता है।

"लाखों गरीबों की सेवा का बोझ उठा लेना, यह सच्चा लक्षचंडी यज्ञ है।" अपने इस वाक्य में मैंने यही वेदार्थ रखा है।

अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त करानेवाला धर्म है। धर्म का यह लक्षण उत्तम और परिपूर्ण है। अभ्युदय यानी ऐहिक उन्नति। पत्रकार के इस अर्थ को मैं स्वीकार करता हूं। उसमें मुझे जोड़ना इतना ही है कि उस उन्नति से किसीका विरोध न हो। निःश्रेयस पारलौकिक होता है, पत्रकार के इस कथन को मैं नहीं मानता। वह शास्त्र के आधार पर नहीं है। निःश्रेयस का शास्त्रीय अर्थ परम कल्याण—मोक्ष—है। यह शब्द गीता में भी इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मोक्ष पारलौकिक नहीं होता। वह चित्त-शुद्धि के द्वारा इसी देह में अनुभव करने का विषय है। धर्म के इस दुहरे लक्षण को ही मैंने समाज का हित और चित्तशुद्धि शब्दों की सादी-सरल भाषा में व्यक्त किया है।

तब परलोक बचा कहां? यह बात वेद के उपर्युक्त वाक्य से ही पूछिये। मैं तो तुलसीदास के शब्दों में कहूंगा—

को जानै, को जैहै जमपुर
को सुरपुर परधाम को।
तुलसीहि बहुत भलो लागत जग,
जीवन राम गुलाम को।

: २७ :

विविध विचार

१. गरीबों के संरक्षक

गरीबों के संरक्षक गरीब ही होने चाहिए। यदि यह न हो तो कम-से-कम उनका हृदय गरीबों के दुःख से दुःखी और सुख से सुखी होनेवाला हो, गरीबों से सहानुभूति रखनेवाला हो। और कुछ नहीं तो उनमें गरीबों के प्रति प्रेम तो होना ही चाहिए।

हम एक ओर गरीबों के संरक्षक कहलायें और दूसरी ओर अपना हुजूरपन भी कायम रखें, ये दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं। द्वारकापति जब पांडवों की ओर से दुर्योधन से बातचीत करने के लिए गये थे, तो दुर्योधन ने उनसे अपने राजमहल में ठहरने के लिए बहुत आग्रह किया था, किन्तु भगवान् ने वहां ठहरना स्वीकार नहीं किया। वह विदुर की झोंपड़ी में ठहरे थे और उसके सामने वैकुंठ भी किसी गिनती में नहीं था। वह विदुर के कम्बल पर सोये और उसे शेष-शैया से भी कोमल समझा। उन्होंने विदुर के घर की कंजी भरपेट खाई और उसके सामने अमृत को भी तुच्छ समझा। यह सब उन्होंने क्यों किया ? इसलिए कि वह पांडवों के प्रतिनिधि थे—उन पांडवों के, जिन्होंने बारह वर्ष के वनवास और एक वर्ष के अज्ञातवास में अनेक कष्ट उठाये थे और अपनी देह को सुखा डाला था। इस बात को श्रीकृष्ण भूले नहीं थे। उन्होंने माना था कि "मेरे और पांडवों के जीवन में साम्य होना चाहिए। एक ओर तो मैं राजमहल में मेहमानदारी खाता रहूं और दूसरी ओर पांडवों के दुःखों की बात करूं, यह तो निरा नाटक होगा।" भगवान् का यह उदाहरण शिक्षाप्रद है। बच्चे की भूख जैसे

मां को महसूस होती है, उसी प्रकार जिसे प्रजा की भूख महसूस होगी वही प्रजा का संरक्षक हो सकेगा। क्या यह भी कभी हो सकता है कि बच्चा तो भूखा पड़ा हो और मां माल उड़ा रही है।

२. स्वतंत्रता का गुलाम

पाश्चात्य नीतिशास्त्र में एक मजेदार प्रश्न उठाया गया है—

"सम्पूर्ण नीतिमान पुरुष के लिए अनीति का आचरण करना संभव है या नहीं ?"

एक पक्ष का कहना है : "नहीं ? क्योंकि यदि वह अनीति का आचरण कर सकता है तो वह पूर्ण नीतिमान कैसा ? शुद्ध सोने में मिलावट कैसी ?" दूसरे पक्ष का कहना है कि "संभव होना चाहिए। यदि 'पूर्ण' पुरुष के लिए अनीति का आचरण संभव न हो तो वह पूर्ण पुरुष नीति का 'यंत्र' ही माना जायगा। जो 'नीति' का गुलाम बन गया है वह पूर्ण कैसा और नीतिमान भी कैसा ?" शंकराचार्य ने ईश्वर को 'सर्वज्ञ' कहा है। उस कथन पर आक्षेप करनेवाले ने इसी प्रकार की उलझन खड़ी की है। उसका कहना है कि "सर्वज्ञ यानी सब जाननेवाला। ईश्वर कभी तो सब जानने का काम करता होगा और कभी नहीं। इसलिए जब वह सब जानने का काम नहीं करता होगा तब वह 'सर्वज्ञ' नहीं रहेगा। दूसरी ओर यदि यह मान लिया जाय कि वह अपनी जिम्मेदारी को सदा ही निभाता है तब तो वह ज्ञान का गुलाम हुआ !" कर्मयोगी कर्म का गुलाम, नीतिमान नैतिकता का गुलाम, सर्वज्ञ परमेश्वर ज्ञान का गुलाम और यह कौन ? "यह है स्वतंत्रता का गुलाम।"

३. नदी—ईश्वर की बहती हुई करुणा

नदी-किनारे के लोगों में एक प्रकार की उदारता व प्रेम दिखाई देता है। नदी के रूप में ईश्वर की करुणा बहती है। नदी-किनारे के लोगों को उस करुणा में डुबकी लगाने का मौका मिलता है। नदी का पानी पीने में पानी के साथ ईश्वर की करुणा भी पीने को मिलती है। उससे उनका अन्तः-

करण उदार होता है । मेरे गांव की नदी को ऊपर के गांववालों ने मेरे पास भेजा है और मुझे भी वही परम्परा कायम रखकर उसे नीचे के गांव की ओर भेजना चाहिए, यह कृतज्ञ भावना —परोपकार बुद्धि—नदी-किनारे के लोगों में पैदा होती है । नदी-किनारे के लोगों में नदी के बारे में एक सात्विक अभिमान रहता है । जैसे देश का अभिमान, वैसा ही नदी का अभिमान । परंतु देश का अभिमान स्थायी या रुका-सा होता है, इसलिए उसमें संकुचितता हो सकती है । नदी का अभिमान जंगम या बहता रहता है । इसलिए उसके योग से अन्तःकरण व्यापक बनता है । महाराष्ट्र में कृष्णा या गोदावरी के किनारे के लोगों में उदारता स्पष्ट दिखाई देती है, क्योंकि उनके प्रांत की नदियां दूसरे प्रांतों में गई हैं । उसी प्रकार गुजरात की नर्मदा या तापी के किनारे के लोगों में कृतज्ञता दिखाई देती है, क्योंकि परप्रांत की नदियां उनसे मिलने आई हैं । कृतज्ञतापूर्वक सेवा को स्वीकार करना तथा उदारतापूर्वक सेवा करना नदी-किनारे रहनेवाले लोगों का देह-स्वभाव होता है, आदत होती है ।

४. कायरता और क्रूरता की दूरी

परसों कलकत्ता के पास बकरीद के दिन हिंदू-मुसलमानों के बीच दंगा हुआ । उसका कारण गोवध था । मुसलमान मुट्ठीभर थे । हिंदुओं की संख्या अधिक थी । उसका फायदा उठाकर हिंदुओं ने क्रूरता की । गांधीजी ने उसका निषेध किया । उससे एक समस्या खड़ी हो गई है । कोहट में हिंदू प्रतिकार न करके भाग गये थे तो गांधीजी ने उन्हें कायर कहा था और अब कलकत्ता में प्रतिकार किया तो उन्हें अत्याचारी कह रहे हैं । क्या किया जाय ? इस समस्या को सुलझाना मुश्किल नहीं है । कायरता के दोष से छूटने के लिए यदि क्रूर बनें तो वह आग से निकलकर भयूर में गिरने के समान है । कायरता और क्रूरता एक ही गुण के दो नाम हैं । मुट्ठीभर लोगों पर क्रोध करने में जैसी क्रूरता है वैसी कायरता भी है, और भयभीत होकर भाग निकलने में जैसी कायरता है वैसी क्रूरता भी है, क्योंकि डरपोक

आदमी मन में हिंसा करता ही रहता है। अर्जुन को देखकर भागना और द्रौपदी के सोते हुए बच्चों पर छुरी चलाना ये दोनों बातें एक ही अश्वत्थामा ने की थीं। शौर्य जितना कायरता से दूर है, उतना ही क्रूरता से भी दूर है। शूर निर्भय होता है और इसीलिए वह अक्रूर भी होता है। कोहट से कलकत्ते तक दौड़ न लगाकर बीच में ही कहीं कुरुक्षेत्र बनाना चाहिए। पृथ्वी के विस्तृत नक्शे में जो स्थान जितने अधिक दूरी पर दिखाई देते हैं वे उतने ही पास भी होते हैं। उसी प्रकार कायरता और क्रूरता में कोहट कलकत्ता का अंतर दिखाई देता है, तब भी वास्तव में कुछ अंतर नहीं है।

५. अस्पृश्यता-निवारण का व्रत

किसी भी मनुष्य को छूत न मानने मात्र से अस्पृश्यता-निवारण की इतिश्री नहीं हो जाती। जिस प्रकार भंगी के शरीर की छूत मानना पाप है, उसी प्रकार उसके काम की छूत मानना भी पाप है। कोई समाजोपयोगी काम नीच नहीं होता, यह बात मन में बैठनी चाहिए और उसे करने की तैयारी होनी चाहिए। सेवा-धर्म की अस्पृश्यता दूर होनी चाहिए। काम की छूत बिलकुल मिट जानी चाहिए। भोजन का काम तो अपवित्र नहीं होता और पखाना-सफाई का काम अपवित्र होता है, यह क्यों? यदि दोनों कर्तव्य-रूप हों, तो दोनों ही पवित्र भी होंगे। पर भोजन करना क्या सदा ही कर्तव्य-रूप रहता है? पंगत बैठी है। आग्रहपूर्वक परोसा जा रहा है। कटोरी में घी है या घी में कटोरी कुछ समझ में नहीं आता। क्या इस सबको पवित्र कहा जायगा? ऐसे समय में भोजन का कर्तव्य-रूप मिटकर उसमें भोग का रूप आ जाता है। इसके विपरीत भंगी का काम उसके लिए स्थायी कर्तव्य-रूप रहता है। ब्राह्मण का लड़का बरतन-सफाई करके कमाई करता है और उस कमाई पर पढ़ाई करता है तो वह दृश्य ठीक नहीं लगता। उसके बजाय सप्ताह के सात दिन नियत सात घरों में भोजन करके उसका पढ़ाई करना ठीक मालूम होता है। यह अस्पृश्यता की भावना है। बरतन-

सफाई का काम अस्पृश्य माना गया है। ऐसी अस्पृश्यता की भावना को निकाल देना अस्पृश्यता-निवारण-व्रत का महत्वपूर्ण अंग है।

६. प्रेम का आधार

हम कहते हैं कि प्रेम में गुण-दोष नहीं देखना चाहिए। इसका क्या अर्थ है ? यदि गुण-दोष न देखें तो क्या देखें ? गुणों पर प्रेम करने का अर्थ आसानी से समझ में आता है, किन्तु जब गुण न हों तब भी प्रेम में कमी न हो इसका अर्थ क्या है ? गुणों का आधार छोड़ दिया जाय तो फिर प्रेम किस आधार पर रहता है ? नास्तिक को दूसरा कोई भी आधार नहीं दिखाई देगा, किन्तु आस्तिक के लिए है। भूतमात्र में हरि का वास है। इस हरि पर नज़र रखकर प्रेम टिकना चाहिए। भूत मात्र में परमेश्वर रहता है, इतना ही भूत मात्र पर प्रेम करने के लिए पर्याप्त है। गुण भी अस्थिर होते हैं और दोषों पर प्रेम किया जाय यह तो कोई कहता ही नहीं। इसलिए प्रेम का आधार परमात्मा है। सब एक ही मां के बच्चे हैं, यह प्रेम का आधार है। उस परमात्मा को हमें पहचानना है। जब यह बात हमें जंच जायगी तभी विश्वव्यापी प्रेम का अनुभव होगा।

७. गीता और गणतंत्र

आज के गणतंत्र का सूत्र है 'एक व्यक्ति एक मत' और गीता का सूत्र है 'सब भूतों में एक ही आत्मा है।' 'एक व्यक्ति एक मत' और 'सब भूतों में एक आत्मा' दोनों सूत्र ऊपर से समान जान पड़ते हैं, परंतु पहला सूत्र जहां भेद का सूत्रपात करता है वहां दूसरा उसका उपसंहार करता है, इतना भेद है। एक 'बहुसंख्यकों के सुख' का विचार करता है, इसलिए अल्पसंख्यकों के दुःखों की चिंता नहीं करता। दूसरा सूत्र 'सबके हित' का खयाल रखता है, इसलिए किसी एक का भी सुख नहीं भूलता। एक जहां भिन्न-भिन्न मतों का संघर्ष करवाता है, वहां दूसरा मतों के बीच मेल करवाता है। एक सिरों की गिनती करता है, दूसरा हृदय टटोलता है। पहले जमाने

में प्लेग के दिनों में जो प्लेगवाली जगहों से आते थे, उन्हें सख्ती से 'सूतक' में (दूर) रखा जाता था। एक दफा प्लेग-ग्रस्त क्षेत्र से आये हुए लोगों को सिपाही ने रोक दिया। उन लोगों को विशेष काम था, इसलिए वे अपने-को छोड़ देने के लिए सिपाही से अनुनय-विनय करने लगे। सिपाही ने कहा, "मैं तो छोड़ देता, किंतु अफसर गिनती करता है। इसलिए छोड़ नहीं सकता।" इसपर उन्होंने कहा, "हम उतने ही दूसरे लोग यहां बैठा देते हैं। तब तो काम हो जायगा न ?" सिपाही बोला, "हो जायगा। हमें क्या ? हमारी तो गिनती पूरी हो जानी चाहिए। यह है गणतंत्र का तत्त्व। गीता अद्वैत की बात करती है।

८. दैनंदिनी लिखें

स्वामी रामदास ने कहा है : "**दिसामाजि कांही तरी तें लिहावें**"—दिन में कुछ-न-कुछ तो लिखें ही। हम कहते हैं, 'रोजाना कुछ-न-कुछ तो कातें ही।' हमने रोज लिखने पर ज़ोर नहीं दिया, न वैसा जोर डालने की आवश्यकता है। किंतु कार्यकर्ताओं की ओर से जो पत्र-रिपोर्ट आदि प्राप्त होते हैं, उन्हें देखने पर स्वामी रामदास के उपर्युक्त वचन की उपयुक्तता समझ में आती है। कार्यकर्ताओं के पास लिखने-जैसा कुछ नहीं होता और अकर्ताओं का, जो लोग कुछ नहीं करते, उनका लिखना बेकार है, यानी वाङ्मय खत्म हो गया ! यदि यह कार्य-परायणता या चिंतन का लक्षण होता तो मुझे उसपर कतई आपत्ति नहीं थी। किंतु वस्तुस्थिति वैसी नहीं है। वस्तुस्थिति में चिंतन की कमी दिखाई देती है। विचार करने की भी एक आदत होती है। आदत के कारण विचार बढ़ता है। रोजाना का निरीक्षण, समाचार, अनुभव रोजाना लिखकर रखना चाहिए। इससे स्मरण रखने, चिंतन करने और अनुशीलन करने की आदत पड़ती है। वृत्त या समाचार छोटा हो या बड़ा उसे लिखने के पीछे कोई-न-कोई 'वृत्ति' काम करती है। उसे पहचानकर वृत्ति-शोधनपूर्वक छोटी-बड़ी सभी वृत्तों या बातों का संग्रह करना चाहिए। 'छोटा' और 'बड़ा' यह भेद ही गलत है।

वैसे देखा जाय तो इस संसार में क्या कभी कोई बड़ी घटना होती है ? विश्व की गति में बड़ी-से-बड़ी घटना भी शून्य ही है। किंतु अपनी वृत्ति की दृष्टि से देखें तो छोटी-से-छोटी घटना भी महत्वपूर्ण हो सकती है। मनुष्य ने हस्तेन्द्रिय, वाचा और बुद्धि को अपना विशेष गुण माना है। इन तीनों का आपस में एक-दूसरे पर असर पड़ता है। हममें इन तीनों के कार्य, उद्योग, जप और चिंतन एक साथ चलने चाहिए। तभी तेजी से हमारी सर्वतोमुखी प्रगति होगी। कार्यकर्ताओं की ओर से जिस प्रकार के लेखन की मैं अपेक्षा करता हूं, उसका स्वरूप मेरी दृष्टि में जप का है।

६. मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयः

विठोबा पवनार का निवासी। बिना पढ़ा-लिखा। सत्रह-अठारह वर्ष का एक मजदूर। किंतु उसने शुद्ध चित्त के बल पर अनेक सज्जनों का मन जीत लिया था। उसकी अंतिम बीमारी में जिन्होंने उसकी सेवा की, उन्हें वह सेवा भारस्वरूप नहीं, बल्कि उपकार स्वरूप मालूम हुई।

वर्ड्सवर्थ बहुत बार अपने गांव के पास की एक टेकड़ी पर घूमने जाया करता था। उस टेकड़ी पर बिखरे हुए पत्थर सिलावट लोग अपने काम के लिए चुनकर ले जाते थे। उसके मरने के बाद उसका स्मारक किस प्रकार बनाया जाय, इसके संबंध में वर्ड्सवर्थ ने लिखा है—"इस टेकड़ी पर एक पत्थर ऐसा है, जिसने किसी भी सिलावट को अपनी ओर आकर्षित नहीं किया, किंतु इसीलिए मैं उसकी ओर विशेष आकर्षित हुआ हूं। उस पत्थर को मेरा स्मारक समझा जाय और उसपर केवल इतना लिखा जाय कि 'अनेकों में से एक।' वर्ड्सवर्थ की तो यह आकांक्षा मात्र थी। विठोबा दरअसल वैसा था।

विठोबा की एक लड़के से दुश्मनी हो गई। उसमें विठोबा का विशेष दोष नहीं था। किन्तु फिर भी जब मैंने समझाया कि दुश्मनी अपने-आपमें एक बड़ा दोष है, और इतना कहकर मैंने दोनों के हाथ एक-दूसरे से मिलवा दिये, तबसे विठोबा दुश्मनी भूल गया और दोनों प्रेमपूर्वक रहने लगे।

विठोबा के सद्भावों की ऐसी अनेक बातें मेरे पास हैं। किन्तु अब वे सब सद्भाव विठोबा में से निकलकर आत्मतत्त्व में लीन हो गये हैं। मूलतः वे वहीं के थे। ज्ञानदेव जैसे सन्त ने '**माझें नाम रूप लोपो**'—मेरा नाम-रूप लोप हो जाय—कहकर जो प्रार्थना की है, वह इसी दृष्टि से।

विठोबा रोजाना शाम को काम समाप्त करके प्रायः मेरे पास आता और मेरी बातें सुनने बैठ जाता था। किसी शाम को वह नहीं आता तो मुझे लगता था कि आज क्यों नहीं आया। आजकल भी वह मेरे पास आता था, किन्तु अब वह मेरी बातें सुनने के बजाय अपनी बातें मुझे सुनाता था।

उसके चले जाने के बाद आज कितने ही दिनों से मैं निम्नलिखित वचन गुनगुनाता रहता हूं :

माभया विठोबाचा—कैसा प्रेमभाव।
आपण चि देव होय गुरु॥
पढ़िये देह भाव, पुरवी वासना।
अंतीं तों आपणापाशीं न्यावें॥

अर्थात्—मेरे विठोबा का कैसा प्रेम-भाव है कि वही भगवान् और वही गुरु बन गया है। देह चाहा तो देह दिया और अन्त में वह अपने पास बुला लेगा। भक्ति-मुक्ति दोनों वासना वह पूरी करता है।

१०. हिमालय विभूति क्यों?

भगवान् ने हिमालय की गणना विभूतियों में क्यों की है, इसका आपको अब प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा होगा। कुछ विभूतियां अपने समय के लिए ही होती हैं, और वैसी विभूतियां भी गीता में आ ही चुकी हैं, किन्तु कुछ विभूतियां, जिनमें खासकर जो निसर्गात्मक हैं, उन्हें चिरंतन कहा जा सकेगा। वैसे देखा जाय तो इस जगत् में वास्तव में एक आत्मतत्त्व ही चिरंतन है। और विभूतियों का वर्णन करते हुए भगवान् ने "**अहमात्मा गुड़ाकेश**" कहकर ही शुरूआत की है। इस महाविभूति में शेष सब विभूतियों का सहज ही समावेश हो जाता है।

बाह्य विभूतियों के दर्शन से आनन्द होता है, उसका कारण यही है कि उनमें आत्मा का कोई गुण प्रकट हो जाता है। समुद्र को देखकर आत्मा की गंभीरता, कमल को देखकर अलिप्तता, रात्रि को देखकर अव्यक्तता, सूर्य को देखकर तेजस्विता, हिमालय को देखकर स्थिरता आदि आत्म-भाव या गुणों का थोड़ा-सा अनुभव होता है, इसलिए हमें आनन्द होता है। जहां जरा भी आत्मोपलब्धि होती है, वहीं हमें आनन्द मिलता है।

सृष्टि-दर्शन से सभीको आनन्द मिलता है, परन्तु सृष्टि का आत्म-स्वरूप परखने की जिसमें शक्ति है, उसे कवि कहा जाता है। हिमालय के सांनिध्य में रहकर अनेकों ने तपस्या की है। उस तपस्या की पवित्रता हिमालय के शुद्ध शरीर पर अंकित हुई है। अनेक ऋषियों ने उसकी गुफाओं में बैठकर प्रजा के हित का चिन्तन किया है और उनका वह विश्वकल्याण-चिन्तन गंगादि नदियों के रूप में आज भी बह रहा है। अनेक योगी हिमालय के शिखरों पर शरीर और उन्नत विचारों से पहुंचे हैं। उनके विचारों की पवित्र हवा वहां से बह-बहकर भारत के प्रत्येक मनुष्य के हृदय को आलिंगन देकर जगाती है।

जो व्यक्ति रात को सोते समय उत्तर दिशा का दर्शन और ध्रुव तारे की निश्चलता का ध्यान करके सोता है, वह सैकड़ों मील दूर रहने पर भी हिमालय के सांनिध्य का अनुभव कर सकता है। सप्तर्षि उत्तर दिशा की ओर दिखाई देते हैं। उनके आकार को देखकर अनेकों ने अनेक कल्पनाएं की हैं। परन्तु काश्मीर और हिमालय को मिलाकर भारत के उत्तर भाग की आकृति जिस प्रकार की बनती है, मुझे तो सप्तर्षि की आकृति वैसी ही दिखाई देती है।

११. 'सहनाववतु' का विवरण

सहनाववतु सहनौ भुनक्तु सहवीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥

'सहनाववतु' मंत्र का भोजन से संबंध नहीं है, यह आक्षेप मैंने बहुत बार सुना है। किन्तु यह आपत्ति मुझे ठीक नहीं मालूम होती। इसलिए उसमें

परिवर्तन करने की आवश्यकता भी मुझे नहीं मालूम होती है।

इस मंत्र का संक्षेप में विवरण देता हूं :

१. इसमें द्विवचन का प्रयोग हुआ है। वह सोद्देश्य है। समाज में गरीब-अमीर, शिक्षित-अशिक्षित, स्त्री-पुरुष, मां-बाप और बच्चे, गुरु-शिष्य, मजदूर-मालिक, इत्यादि दो विभाग सभी जगह दिखाई देते हैं। उन्हें ध्यान में रखकर द्विवचन का प्रयोग किया गया है। दोनों मिलकर ईश्वर से प्रार्थना करते है कि वह सहभाव दे, परस्पर अद्वेष दे।

२. इस प्रार्थना के तीन अंग हैं : (अ) "ईश्वर हम दोनों का (अन्नादि द्वारा) समान पोषण करे।" यह तो पोषण और सहपोषण के लिए प्रार्थना हुई। (आ) उपर्युक्त बात को ध्यान में रखकर हम दोनों (वर्ग) साथ-साथ पुरुषार्थ करें, साथ-साथ कर्म करें, साथ-साथ उद्यम करें।" (इ) इस सह-पुरुषार्थ से "हम दोनों को तेजस्वी ज्ञान मिले।"

३. उपर्युक्त तीनों अंगों को मिलाकर जीवन-विषयक एक सम्पूर्ण प्रार्थना बनती है और इसलिए वह सार्वभौम है। इसलिए लगभग सभी सामुदायिक प्रसंगों पर उसका उपयोग किया जा सकता है। मनुष्य अकेला हो तब भी मानसिक समुदाय तो रहता ही है। गायत्री मंत्र विशेषतः एकांत जप के लिए माना गया है। उसमें भी सामुदायिक दृष्टि को छोड़ा नहीं गया है, इसीलिए उसमें 'धीमहि' का बहुवचनी प्रयोग किया गया है। गायत्री मंत्र में समुदाय की एकता मान ली गई है। 'सहनाववतु' में प्रत्यक्ष सामने आनेवाले या संभावित वर्गद्वेष को मिटाने की प्रार्थना है।

विभाग (अ) के द्वारा वह मंत्र भोजनादि के प्रसंग पर लागू होता है, (आ) के द्वारा उसे उद्योगादि के समय बरता जा सकता है और (इ) के द्वारा वह अध्ययनादि में उपयोगी होता है।

१२. दास नवमी चिन्तन

"अती-लीनता सर्व-भावें स्वभावें
जना सज्जनालागिं संतोषवावें

देहे कारणी सर्व लावीत जावें
सगुणीं अती आदरें सीं भजावें।"

१. हर बात में अतिशय नम्रता से व्यवहार करें। किन्तु कृत्रिम नम्रता व्यर्थ है। वह सहज ही होनी चाहिए।

२. जनता की सेवा करके सज्जनों को संतुष्ट करना चाहिए, क्योंकि जन-सेवा से सज्जनों को संतोष होता है।

३. किसी-न-किसी अच्छे काम में शरीर को लगाकर उसे सार्थक करना चाहिए। देह को आलस्य में नहीं रहने देना चाहिए।

४. आदरपूर्वक भगवान् की भक्ति करनी चाहिए। सदा उसके शुभ गुणों का चिन्तन करते रहना चाहिए। इससे धीरे-धीरे उन गुणों का कुछ अंश हममें उतरेगा।

१३. विवाह का प्रश्न

विवाह के बारे में मां-बाप सलाह दे सकते हैं, मदद कर सकते है, परन्तु निर्णय तो लड़की का ही माना जाना चाहिए। मां-बाप की सलाह सहज रूप में लड़की को जंच गई, तब तो कोई बात नहीं, पर यदि नहीं जंची तो मां-बाप को दुःखी नहीं होना चाहिए। इसपर भी यदि वे दुःखी हों तो उसमें लड़की का कोई दोष मानने को मैं तैयार नहीं हूं। केवल मां-बाप के संतोष के लिए ऐसी बात, जिसे उसका हृदय स्वीकार नहीं करता, कभी मान्य नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जो बात हृदय को न जंचे, वह यदि हम करेंगे तो वह अपने हृदय को धोखा देना है और हृदय को धोखा देना अधर्म है। वह माता-पिता को धोखा देने के समान है।

जिसके प्रति तुम्हारे मन में विशेष अनुराग है, परन्तु तुम्हें मालूम है कि वह तुम्हें नहीं चाहता, उसके साथ विवाह करने की कल्पना तुम्हें छोड़ ही देनी चाहिए। जिस प्रकार सबके प्रति सद्‌भावना होनी चाहिए, वैसे ही उसके प्रति भी रखनी चाहिए। परन्तु यदि ऐसा तटस्थ भाव रखना अशक्य हो और तीव्र प्रेम का अनुभव आता हो और इतने पर भी उसकी ओर से

कोई अनुकूल उत्तर न मिलता हो तो शारीरिक विवाह का विचार छोड़कर व्यक्ति को परमात्मा का प्रतीक मानकर उसका मानसिक रूप से वरण कर लेना चाहिए और ब्रह्मचर्य-व्रत से रहते हुए जीवन व्यतीत करना चाहिए। यह सब तुमपर कहांतक लागू होता है, मुझे नहीं मालूम। यह आत्म-परीक्षण करके तुम्हें स्वयं निश्चित करना चाहिए। मेरा उत्तर पूर्ण है। हरेक को अपनी स्थिति के अनुसार उसका विनियोग कर लेना है।

और भी अनेक सूचनाएं देना चाहता हूं। अपनी मनःस्थिति का वास्तविक ज्ञान प्रायः मनुष्य को नहीं होता। वस्तु का यथार्थ दर्शन बहुत पास से नहीं होता, और दूर से तो वह अदृष्ट ही हो जाता है। थोड़े अन्तर से उसका ठीक दर्शन होता है। पास रहकर बहुत चिंता और चिन्तन करने से भी जो बात ध्यान में नहीं आती, वही थोड़े समय बाद अपने-आप ध्यान में आ जाती है। इसलिए मानसिक व्याकुलता को छोड़ ही देना चाहिए।

माता सहज प्राप्त होती है, उसे चुनना नहीं पड़ता, उसी प्रकार ईश्वर की योजना में पति भी सहज प्राप्त होता है। ऐसी श्रद्धा रखी जाय तो व्याकुलता कम होगी, क्योंकि परमेश्वर कोई शारीरिक वस्तु नहीं है, मानसिक है। सारे विश्व को परिपूर्ण प्रेम से देखना सीखने के लिए विवाह आदि के प्रयोग रखे गये हैं।

हृदय के विरुद्ध कोई काम न करना। धीरज से काम लो और ईश्वर पर श्रद्धा रखो।

१४. देव-स्थानों का सुधार

बारकरी पंथ के एक कीर्तनकार लिखते हैं :

पंढरपुर के पांडुरंग का मन्दिर हरिजनों के लिए खुला, यह आकांक्षा और आतुरता संतभूमिका को शोभा देने लायक ही है। यहां सबका अधिकार है। 'सकलांसी आहे येथें अधिकार' इत्यादि अभंग वाणी के द्वारा तुकाराम महाराज आदि सन्तों ने इसका समर्थन किया है और अस्पृश्य किसे समझा जाय, इसका निर्णय भी ज्ञानदेव महाराज ने कर दिया है।

'काम एष क्रोध एष', इसपर टीका करते हुए उन्होंने बताया है कि काम-क्रोधादि विकार और इनके साथी ही वास्तव में अस्पृश्य हैं। परन्तु केवल हरिजनों के लिए मन्दिरों के दरवाजे खोल देनेभर से देवस्थानों के सुधार और धर्म-शुद्धि का कार्य पूरा नहीं हो जाता। देवस्थान अध्यात्म-विद्या के पीठ होने चाहिए। देवस्थानों में काफी पैसा होता है। उसका सदुपयोग होना चाहिए।

लेखक के लेख का सौम्य भाषा में यह सार है। आज हमारे मन्दिरों में अनेक स्थानों पर नाना प्रकार के अनाचार चल रहे हैं। अज्ञान जनता की उदार श्रद्धा और ईश्वर की सहनशीलता के बल पर वह टिका हुआ है। परन्तु ईश्वर की सहनशीलता निष्क्रिय नहीं होती। कर्म और उसके फल के बीच संबंध जोड़कर वह तटस्थ बन गया है और यदि मन्दिरों का जल्दी सुधार नहीं हुआ, तो उसकी सहनशीलता यह योजना बना रही है कि मन्दिर ही न रहें। ईसा मन्दिर में गया और उसने देखा कि वहां तो बाजार लग रहा है। आज यदि ज्ञानदेव अथवा तुकाराम हमारे मन्दिरों में आकर देखें तो उन्हें भी वहां यही दिखाई देगा और फिर ईसा की भांति वे भी इन सारे बाजारों को उठा देने के काम में लग जायंगे। परन्तु यह काम ऐसे राग-द्वेष-रहित संतों का है। साधारण लोग तो इतना ही करें कि वहां जानेवाले सभी लोगों को समतापूर्वक दर्शन हों और इसका प्रबन्ध जनता के द्वारा चुने हुए लोगों के हाथों में रहे। इतना करके वे आगे के काम के लिए महान् सत्पुरुषों के आगमन की सक्रिय प्रतीक्षा करें।

१५. आत्म-निष्ठ बनें

मुझसे यहां बहुत-से प्रश्न पूछे गये। उन सबके जबाव अलग-अलग देना जरूरी नहीं है, क्योंकि बहुत-से प्रश्न ऐसे होते हैं कि उनके केवल पूछ लेने मात्र से प्रश्नकर्ता का समाधान हो जाता है। फिर भी इन प्रश्नों को ध्यान में रखते हुए मैं आपके सामने दो शब्द कहता हूं।

अभी यहांपर एक बहन ने कहा कि हमारे देश की बहनों की वर्तमान

अवस्था के लिए अधिकांश में पुरुष ही जिम्मेदार हैं। मैं इस आरोप को दुःखपूर्वक स्वीकार करता हूं। मुझे इसका पता भी है। मेरे जीवन की रचना इसी ज्ञान के आधार पर हुई है और अपनी मां को याद करके इस विषय में अपनी जिम्मेदारी पूरी करने का निरन्तर प्रयत्न करता रहा हूं।

कल मैंने एक मूल-भूत विचार आपके सामने रखा था। स्त्रियों और पुरुषों में जो भेद है, उसे संसार जानता है। उसे दूर करने की न किसीकी इच्छा है और न शक्ति भी। परंतु इस भेद ने जो लौकिक स्वरूप ग्रहण कर लिया है, वह ऐसा नहीं है। यह स्वरूप प्रकृति की योजना है। उसकी जड़ में पवित्र भावना है। प्रजोत्पत्ति का वह केवल एक साधन है। परन्तु मनुष्य प्राणी ने इस बात का अत्यंत दुरुपयोग किया है। सच पूछिये तो यह एक शास्त्रीय विषय है। फिर भी उसे आज एक लज्जाजनक रूप प्राप्त हो गया है। वह भी इतना कि उसके बारे में खुले दिल से बोलना भी असंभव हो गया है। परन्तु जैसे ही उसमें शास्त्रीयता आने लगेगी तत्संबंधी सारी गलतफहमियां भी दूर हो जायंगी। फिर उस विषय का आज के समान दुरुपयोग नहीं होगा। इसलिए मेरी राय यह है कि इस बाहरी, ऊपरी भेद को भुलाकर मानवी दृष्टि से आन्तरिक अभेद की नींव पर ही हमें अपने जीवन की रचना करनी चाहिए।

लोग पूछते हैं कि "तब क्या आप स्त्री-पुरुषों की शिक्षा में कुछ भी भेद नहीं करेंगे ?" इसपर मेरा जबाव यह है कि यदि भेद ही करना है तो हर आदमी की शिक्षा में भी भेद हो सकता है। पुरुषों की योग्यताओं में भी फर्क होता है और इस बात को ध्यान में रखकर उन्हें अलग-अलग प्रकार से शिक्षा दी जाती है, तथापि सर्वसामान्य शिक्षा की नीति में इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। यही बात स्त्रियों के बारे में भी समझी जानी चाहिए। एक बहन ने पूछा था कि क्या बाल-संगोपन स्त्री-शिक्षा में शामिल नहीं है ? जरूर है। परन्तु इसका अर्थ यदि यह होता हो कि पुरुषों की शिक्षा में इसकी जरूरत नहीं है, तो वह मुझे स्वीकार नहीं है। बच्चा तो माता-पिता दोनों के लिए आवश्यक है। हां, इतना जरूर माना जा सकता है कि माता को

इस ज्ञान की आवश्यकता अधिक है।

१६. लड़के-लड़कियों की शिक्षा

एक मित्र लिखते हैं—

"तालीमी संघ द्वारा नियुक्त की गई एक समिति के अंग्रेजी कार्य-विवरण में एक वाक्य है, जिसका आशय है—अनिवार्य शिक्षा यदि लड़कों व लड़कियों दोनों के लिए न की जा सकती हो तो कम-से-कम लड़कों के लिए तो की ही जानी चाहिए। मुझे यह बात नहीं जंचती। मेरी राय इससे ठीक उलटी है। समिति के एक सदस्य के नाते आपका नाम भी अन्त में छपा हुआ है। फिर भी मैं मानता हूं कि पूरा विवरण आपने शायद नहीं पढ़ा होगा और इसलिए उपर्युक्त वाक्य भी आपके देखने में नहीं आया होगा। इस संबंध में आपकी क्या राय है ?"

शिक्षा लड़के और लड़कियों दोनों को एक-सी मिलनी चाहिए और वह सबके लिए अनिवार्य होनी चाहिए, यह मैं मानता रहा हूं। सात वर्ष की शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए, यह समिति की राय है। यह हुई शिक्षा की दृष्टि। परन्तु वर्तमान सामाजिक परिस्थिति में प्रगतिशीलता के अभाव में यदि लड़कियों के लिए शिक्षा को अनिवार्य नहीं किया जा सके, तो कम-से-कम लड़कों के लिए—चूंकि लड़कों के बारे में कोई रुकावट नहीं है—अनिवार्य किया जाय, यह उस सिफारिश का आशय है। शिक्षा की दृष्टि से लड़के-लड़कियों में भेद करने की समिति की कल्पना नहीं है। सारे देश पर एक योजना लागू करने में तरह-तरह की आपत्तियां खड़ी होती हैं। यह विवरण आठ-दस वर्ष पहले का है और देश की हालत इस बीच बहुत बदल गई है। इसलिए हम आशा करें कि शिक्षा की अनिवार्यता के लिए लड़के-लड़कियों के नाम से विशेष भेद करने की जरूरत नहीं रहेगी।

●